अग्निमित्र

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'

(एकाङ्की सङ्ग्रथन)

आकलन एवं सम्पादन
श्री रत्नशङ्कर प्रसाद

हिन्दी प्रचारक संस्थान
पिशाचमोचन, वाराणसी

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के दो ऐतिहासिक एकाङ्की

प्रकाशक :
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पिशाचमोचन, वाराणसी

●

आकलन एवं सम्पादन
श्री रत्नशङ्कर प्रसाद ©
प्रथम प्रकाशन–१९७७
मूल्य : पाँच रुपये

●

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालौनी, वाराणसी

अग्निमित्र

अर्चिका

१ से ५२ पृष्ठ पर्यन्त

कल्याणीपरिणय

१ से ३१ पृष्ठ पर्यन्त

अग्निमित्र

३२ से ५० पृष्ठ पर्यन्त

अर्चिका

'अग्निमित्र' के कलेवर में पूज्य पिताजी के दो एकांकी प्रस्तुत हैं : प्रारम्भिक दिनों की रचना 'कल्याणी परिणय' और अन्तिम दिनों की रचना 'अग्निमित्र' है, एक १९११ इसवीय के लगभग की और दूसरी १९३५ की। अग्निमित्र के वाद केवल इरावती लिखी गयी : किन्तु, अग्निमित्र के ही कथा-भूमि की ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक अन्तःसलिलाओं का संगम-सत्य इरावतो का आधार बना। अग्निमित्र भारतीय-समाज की सांस्कृतिक यात्रा के उस वृहत् अभियान की संक्रान्ति है जिससे प्रायः बाइस शतियों से संस्कृति ने एक भिन्न दिशा पकड़ ली। वह यात्रा अभी अग्रसर है इसलिए आज भी अग्निमित्र की प्रासंगिकता है।

उभय एकांकी, पत्रों में यथासमय प्रकाशित हो चुके हैं : किन्तु, इनके एकत्र-ग्रन्थन की निजी लाक्षणिकता है। संस्कृति के प्रति अपने दायित्त्व को उन्होंने किस दृष्टि से स्वीकृत किया और साहित्य के माध्यम से उसका कैसे निर्वाह हुआ : इसे देखने समझने में अग्निमित्र का आलोक सहायक होगा।

कल्याणी परिणय का कथाप्रसंग उन यवनों के भारत-प्रवेश काल का है जो अग्निमित्र के समय प्रायः समूचे उत्तरापथ को शासित अथवा आक्रान्त किये थे : शक्ति की तुला पर वे गुरुतर प्रमाणित हो रहे थे। इन पाँच सौ वर्षों के यवन-संघर्ष ने जन-जीवन के प्रायः सभी आयामों में हस्तक्षेप किया : उनके वाक्कायसंसर्ग से राष्ट्रमन का स्व-भाव उपहत हुआ, पराभव और अवसाद के युग आते गये जिससे राष्ट्र-संकल्प (मन) मलिन और अनेकधा विखण्डित होता गया : फिर तो राष्ट्र-चेतना का सर्वथा निरास हो गया, फलतः आगे चल कर पूर्वमध्यकाल के संघर्षों के

पीछे सामान्य लोकशक्ति नहीं दीखती इसी लिये कि वे संघर्ष संकुचित स्वार्थ के स्फुलिंग मात्र रहे : देशव्यापी दावा न बन सके। यदि कोई अपवाद मिलता है तो उसमें शासन और लोकपक्ष का साधारणीकरण निहित रहा।

यद्यपि, सेल्यूकस-कालीन मध्य-एशियायी राजनीति और यूनानी क्षैनपों के पारस्परिक संघर्ष की वृहत्तर पृष्ठभूमि लिये कल्याणी-परिणय-प्रसंग चन्द्रगुप्त नाटक के उत्तर भाग में समाविष्ट है : किन्तु लेखकीय विचारदिशा पाने की दृष्टि से "कल्याणी-परिणय" का एक स्वतंत्र स्थान है।

सुसंगठित और भारी सेना लेकर यूनानी आक्रमण हुआ। आक्रान्त भारत के लिए यह नयी घटना थी, विदेशी रण कौशल से उसका प्रथम परिचय था। नन्दराज की विपुलवाहिनी मगध में विश्राम कर रही थी और प्रत्यन्त पर छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त प्रजा पिसती रही। पंचनद के राजा पुरु (पोरस) को दुर्दान्त यवनों से प्राय: अकेले लोहा लेना पड़ा। एक ओर युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर आयी यूनानी वाहिनी थी दूसरी ओर ऐसी आकस्मिकता से पूर्णत: अनभिज्ञ और आन्तरिक सुरक्षा मात्र के लिए गठित गुल्म-प्राय भारतीय सेना। सिकन्दर अपने विजित प्रदेश सेल्यूकस के अधीन कर लौट गया। मगध से क्षुब्ध होकर निकले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पुरु की पराजय और ग्रीक रणकौशल का सावधानी से अध्ययन किया और यूनानी रणोन्माद के आगामी दौर के पूर्व, भारत की केन्द्रीय-शक्ति मगध पर अधिकार कर चन्द्रगुप्त का स्कन्धावार सिन्धु-तट पर स्थापित हो चुका था। भावी आक्रमण की सूचना चरों से लेते और अपनी रणनीति को तदनुकूल नियोजित करते भारतीय मेधाशक्ति और बाहुबल के प्रतीक-रूप चाणक्य और चन्द्रगुप्त अग्रवर्त्ती मोर्चे पर डटे रहे। आक्रमण हुआ : सैल्यूकस का सम्पूर्ण शिविर घिर गया : वह पराजित हुआ और सन्धि हुई। इस सन्दर्भ में इतिहासकारों के मत इस प्रकार है—

एपिएनस—सैल्यूकस ने सिन्धु पार किया। भारतीय राजा सैण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) से युद्ध किया और अन्त में सन्धि कर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया।

प्लूटार्क—सैण्ड्रोकोटस ने सैल्यूकस को ५०० हाथी दिये। यूनानी यहाँ की गजवाहिनी से प्रभावित थे और सीरिया पर ऐंटिगोनस के आसन्न आक्रमण को देखते सैल्यूकस को इनकी आवश्यकता थी।

मैक्क्रिण्डलने "ऐंशिएण्ट इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड वाइ मेंगस्थनीज ऐण्ड एरियन" की भूमिका में इस प्रसंग पर विस्तृत चर्चा की है।

स्मिथ ने "अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया" के एक परिशिष्ट में वताया है कि इस सन्धि में सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को पैरोपेनिसडेई, एरिया, आर्कोशिया, जिड्रोशिया क्रमशः काबुल, हिरात, कन्धार और मकरान दिये। कन्योपायन के साथ ये प्रदेश निश्चय ही चन्द्रगुप्त को दहेज के रूप में मिले होंगें।

इन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर "कल्याणी-परिणय" की रचना हुयी। विदेशी आक्रमण और उसके प्रतिकरण की भारत के इतिहास में यह आदिम कड़ी है जिसका चरितांकन कल्याणी-परिणय के फलक पर सन् १९११-१२ में ऐसे समय हुआ जब चातुरन्त-साम्राज्य-भोक्ता अंग्रेज "दिल्ली-दरबार का जशन" मना रहे थे, यह विशेषतः अवलोक्य है। तब वस्तुतः प्रतीत होने लगा कि समग्र भारत एक बृहत् कारागार है, फिर प्रतिकार में किसी ने असहयोग का नारा बुलन्द किया, किसी ने बम-पिस्तौल चलाये : और कल्याणी-परिणय के कृतिकार ने दासत्व के उच्छेद की प्रायः वैसी ही सजातीय कल्पना की जो तीस वर्षों बाद "क्विट इण्डिया" के रूप में साकार हुई। प्रसाद भारती की वह ध्रुवीय-दृष्टि स्वाधीनता संग्राम में भी अविचल रही जो "समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय" द्वारा कामायनी में प्राप्त है : दृष्टि, समूची मानवता के योगक्षेम पर ही है : किन्तु भारतीय-मानवता और

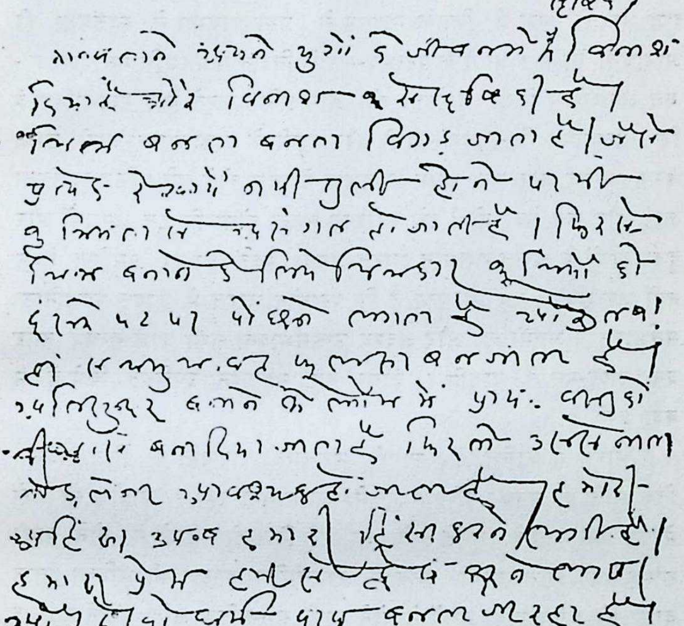
देशकी स्वाधीनता के मूल्य पर कथमपि नहीं। सर्वथा स्वाधीन समर्थ और सशक्त भारत से ही विश्व का कल्याण होगा : उनका यह अभ्रान्त मत था।

उनके समस्त परवर्ती नाटकों का केन्द्रीय-स्पन्द राष्ट्र-चेतना का उद्वोधन है जो कल्याणी-परिणय से ही अग्रसर है। अन्यत्र-सर्वत्र देश और विदेश में स्वतन्त्रता का आवाहन किया गया है किन्तु कल्याणी-परिणय के परिपक्व रूप "चन्द्रगुप्त" में स्वतन्त्रता स्वयं पुकारती है। वस्तुतः स्वतन्त्रता, स्वरूप-सत्तामयी और मातृरूपा है जो अपने अनुग्रह की राशि सन्तति पर बिखेरती उसे सदैव पुकारती रहती है (मेरे सुत सुन माँ की पुकार)। कृत्रिममानवता के अपने बनाये कान्तार में भटकते मानव को अपने अमृतांक में लेने के अर्थ माता व्याकुल है।[1] प्रसाद-भारती की दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ केवल उसके अनुषंगप्राय आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक परिधि में ही सीमित नहीं, अपितु मूलतः आत्मिक है।[2] उस आत्मिक स्वतन्त्रता की दीप्ति ही इस अनुषंगप्राय परिधि को एक शाश्वत और अव्याहत आलोक दे सकती है : और वैसी आत्मिक स्वतन्त्रता जिससे उसके अनुषंगभूत आयाम अनुप्राणित हो सकें, अग्निमित्र के पतंजलि-चरित का अर्थ है : जो आज के युग में कम महत्त्व नहीं रखता जब कि अंग्रेजों के चले जाने पर अंग्रेजियत बहुगुणित हो गयी है। ऐसे परिपार्श्व में इस एकांकी संग्रह "अग्निमित्र" का यथार्थ क्या आज के सन्दर्भ में नवीन नहीं? अहिंसा, प्रेम और धर्म की दिशाओं से भी अपनी स्वतन्त्रता पर व्याघात फलतः आत्मा की हीनता, संकोच और विस्मृति का प्रसाद-भारती सर्वशः विरोध करती है। अग्निमित्र-इरावती प्रसंग में उतर कर तो वह खुला विद्रोह घोषित करती है—"हमारी अहिंसा अब हमारी हिंसा करने लगी है, हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा और देखो धर्म पाप बनता जा रहा है।"

---

१. जहाँ मरुज्वाला धधकती, चातकी कनको तरसती
उन्हीं जीवनघाटियों की मैं सरस बरसात रे मन (कामायनी-निर्वेद)।

२. 'मन की परवशता महादुःख' (कामायनी-ईर्ष्या)।



(मानवता ने अपने युगों के जीवन में सृष्टि का विनाश किया है और विनाश से सृष्टि की है। चित्र बनता-बनता बिगड़ जाता है। जैसे प्रत्येक रेखायें नपी-तुली होने पर भी कृत्रिमता से असंगत हो जाती है! फिर से चित्र बनाने के लिए चित्रकार कूचियों को दूसरे पट पर पोंछने लगता है और तब! हाँ सचमुच वह फूल-सा बन जाता है! अति सुन्दर बनाने के लोभ में प्राय: वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है, फिर तो उससे नाता तोड़ लेना आवश्यक हो जाता है। हमारी अहिंसा अब हमारी हिंसा करने लगी है। हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा। ओर देखो धर्म पाप बनता जा रहा है।)

'हिमाद्रि तुंग शृंग से' जो 'स्वतंत्रता' पुकारती हैं वह 'वह प्रबुद्ध शुद्ध भारती' रूपा है जिसके माध्यम से प्रसादवाङ्मय ने स्वतंत्रता की आराधना की है। आर्यों के पराभव-मूल के निदान में पंतजलि मनोवाक्काय-गत अपवित्रता किंवा दुर्बलता की ओर इंगित करते हैं। स्वाभाविक है कि आत्माभिव्यक्ति-साधन वाणी और वाणी के वाह्याभ्यन्तरचारी उभय चरणरूप देह और मन, संयम के अभाव में दुर्बल होते गये : फिर स्वतंत्रता कहाँ और कैसे सेव्य हो ? इसे स्वीकार करना होगा कि इन असंयमों और दुर्वलताओं के चलते स्वाधीन भारत अपनी स्वतंत्रता का समुचित सेवन नहीं कर सका : यह भी सत्य है कि पराधीन भारत में जाग्रत राष्ट्रनिष्ठा सर्वभारतोय-आत्मीयता और अदम्य उत्सर्गभावना सभी आज गन्धर्व नगर बन राष्ट्र-मन में पुष्यमित्र वाला वह महत्प्रश्न उपस्थित किये हैं 'मैं क्या करूँ' ?

भारत में क्रान्ति और उसकी मंगलमयी परिणति के लिए राजनीतिक मुक्ति ही उनकी दृष्टि में एकमेव प्राप्य नहीं रहा। जातीय संस्कारों में कई सौ वर्षों से घुलते चले आ रहे विजातीय तत्वों से होने वाली सांस्कृतिक क्षति उनकी दृष्टि में राजनीतिक दासता की भूमिका बनाने वाली थी। विजातीय तत्वों से होने वाली सांस्कृतिक क्षति कहने का यह अभिप्राय नहीं कि निज का विस्तार न किया जाय : उसमें अन्यदीय ज्ञान-विज्ञान आकलित न किये जायँ : अपितु तात्पर्य यह है कि वैसे तत्वों को आत्मसात् कर उन्हें अपनी जीवन-दृष्टि के साँचे में ढालने की शक्ति का ह्रास ही सांस्कृतिक क्षति का कारण है। भारत यदि अणु-भेदी अस्त्र वनाता है तो उससे कोई सांस्कृतिक क्षति नहीं किन्तु उसका व्यवहार अथवा अहंकार दूसरों की देखा-देखी करता है तो यह सांस्कृतिक क्षति होगी। पतंजलि कहते हैं—'हममें सब कर्मों को भस्म करने वाली अग्नि-ज्वाला आत्मा की आहुति समझकर सबको ग्रहण करने वाली शक्ति का ह्रास हो रहा है चिर काल से ब्राह्मणों के विरोध में क्षत्रियों ने जिस दार्शनिकता की सृष्टि की है उसी का यह परिणाम है।' यहाँ विश्वमित्र से

सिद्धार्थ गौतम पर्यन्त ब्राह्मण दर्शन के समानान्तर चली उस संघर्ष धारा की ओर इंगित है, जिसमें भारतीय समाज के अनेक उत्थानपतन हुये। अतः ऐसी वैचारिक क्रान्ति की सतत जागरूकता उनके नाटकों की अन्तश्चेतना कही जाने योग्य है : जो क्रान्ति तत्व का अग्रभाव है।[1] विचार जगत की स्वाधीनता उनकी दृष्टि में वड़ा मूल्य रखती थी : और उस परिप्रेक्ष्य में उनके समीप समग्र मानवता वन्दिनी थी।[2] शासित तो वस्तुतः दास थे ही उनके शासक स्वयं भी अपने प्रभु नहीं : और यह वैचारिक दासता उस मात्स्यन्याय की जननी थी जो प्रभुओं के मध्य सिद्धान्तपदीया रह उन्हें भी विकल किये थी। अविसीनिया पर मुसोलिनी के नृशंस आक्रमण के संदर्भ में उन्होंने कभी कहा था 'ग्रह ग्रहीत पुनि वात बस तापर वीछी मार ताहि पियाइय वारुनी कहो कवन उपचार', श्वेत जातियाँ अश्वेतों से दास और पशु जैसा व्यवहार करने वाली राक्षसी वृत्ति की निम्नतम दासियाँ वन गई हैं। अस्सी लाख संगीनों के वीच भाषण देने वाला मुसोलिनो वाहर से जितना प्रवल दिखता है भीतर से कहीं अधिक दुर्वल है : नीरो और इसमें अन्तर ही क्या : वह अपना छोटा-सा रोम जला कर वंशी वजाता था और यह मानवता के घर समूचे विश्व को जलाने चला है। किन्तु विश्व प्रकृति के अन्तराल में उठते 'शक्ति-तरंग' के एक झटके में विलीन हो कुत्सा-शेष व्यक्तित्व वन जायगा। नीरो का जलाया रोम फिर वन गया किन्तु मुसोलिनो का जलाया विश्व पता नहीं कव तक

---

1. During a revolutionary period history seems to march with seven league boots there are rapid changes outwardly but even greater change takes place in the consciousness of the masses (Glimpses of world history—Nehru)
२. 'न जाने कव तुम्हारे इस कुक्कटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमें वन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्तव्य करने के लिए स्वतंत्र होगी। : अग्निमित्र :

जलेगा।' आज भी मुसौलिनी—वृत्ति के केतु-वाहक असितों की मातृभूमि अधिकृत किये सभ्यता, सुधार और संरक्षण के अंग्रेजी-तर्क पर कालारक्त पिये जा रहे हैं और कामायनी के शब्दों में 'विश्व विपुल आतंक त्रस्त है।'

यहाँ चलने वाली क्रान्ति की नरम और गरम धारायें चर्खा तकली-वाद और वमपिस्तौलवाद के रूप में उदित हो चुकी थीं : उनके मध्य वे चाणक्य चेतना और पातंजल प्रेरणा देखने के पक्ष में थे। विश्वकल्याण उनकी दृष्टि में महत्तम था और इस महत्तम उपलब्धि के लिए वे स्वाधीन-भारत की भूमिका अनिवार्य मानते थे। उनका मत था कि भारत जब तक अंग्रेजों के हाथ रहेगा वे विश्व में मनमानी करने को स्वतन्त्र होंगे और भारतविहीन होते ही यह नरभक्षी नखदन्तहीन हो जायगा उसकी दाढ़ें और दहाड़ें केवल भारत के वल पर हैं।

अवसान से प्रायः दो मास पूर्व स्व० टन्डन जी (श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन) और स्व० गुप्तजी (श्रीमैथिलीशरण गुप्त) एक दिन आये। गुप्तजी ने कहा—'अब जल्दी से नीरोग हो जाओ, सम्मेलन ने कामामनी पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक देना निश्चित किया है आगामी अधिवेशन में पारितोषिक लेने हमलोग जबरदस्ती ले जायेंगे और भाषण भी देना होगा दोनों काम जो कभी नहीं किये इस वार तुमसे कराये जायेंगे।' उन्होंने हँस कर कहा 'उम्र सारी तो कटी इश्के बुताँ में मोमिन, आखिरी वक्त में क्या ख़ाक मुसलमां होंगे'। फिर वात को टालते जैसे टण्डन जी से प्रश्न किया—आप बताइये भारत कब रोग मुक्त होगा आयुर्वेद वाले मेरे क्षय-रोग को सहस्र दिन व्यापी बताते हैं। किन्तु, यह राष्ट्ररोग तो सहस्रवर्ष व्यापी हो भारत का क्षय कर रहा है—उसकी जय कब होगी। अब तो आप लोग शासन में डोल रहे हैं (प्रथम काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल में श्री टण्डन जी संयुक्त प्रान्तीय असेम्बली के स्पीकर थे) अंग्रेजों ने किस कानून या न्याय से भारत लिया, क्लाइव और हेस्टिंग की करनी के पीछे कौन

कानूनी धारायें थीं जो आज तुच्छ अधिकारों के टुकड़े भारत के सम्मुख फेंकने में भी पार्लमिन्ट को कानून बनाने पड़ रहे हैं। समस्त न्याय-चेतना वस्तु के ग्रहण के औचित्य पर विचार करती है, त्याग पर नहीं। ब्रिटिश राष्ट्र के लिए भारत को छोड़ने में कब औचित्य दीखेगा ? इसलिये ये दांव खेले जा रहे हैं। अभी उस दिन सम्पूर्णानन्द कह रहे थे यह सब तमाशा गाँधीजी के मौनादेश से चल रहा है इसमें कुछ दम नहीं, कहते थे गाँधीजी को उन्होंने लिखा भी है कि समझोते से हानि है। इसके पूर्व कि श्री टण्डन जी कुछ कहते किंचित उत्तेजित से होकर बोले 'सत्ता क्या भीख में मिलेगी ? भारत सशस्त्र क्रान्ति की दशा में भी नहीं, हां संभव है अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र अंग्रेजों को पूर्व और पश्चिम से दो टूक कर दें और योरोप का भयावह वैचारिक संघर्ष तो किसी दिन गोलन्दाजी में बदलेगा ही उस समय के लिए कोई योजना प्रस्तुत हैं—आपकी कांग्रेस के पास ? अथवा, फिर अंग्रेजी सेना के लिये आप लोग भारती चालू करेंगे, वहीं असहयोग सार्थक होगा और सहयोग सार्थक होगा सेना की भारतीय टुकड़ियों का। ब्रिटिश जंगी जहाजों में काम करने वाले एक भारतीय की आहुति से वैसी आँधी उठ सकती है जिसने कभी स्पैनिश आर्मेडा को जल समाधि दे दी थी। सत्तावन का छन्द अभी दूसरी अर्द्धाली ढूँढ़ रहा है। कुछ कर डालने की 'उजलत' में अनेक राष्ट्रीय मणियों का अपव्यय हो गया भला आप लोगों ने कुछ संयमित किया होता कुछ तो प्रश्रय दिया होता ? कोरा आदर्शवाद। वह भी कैसा ! छ पैसे के घोषित दैनिक भोजन में ६ सेर फलों और मेवों का आहार ! लगता था किसी नये चन्द्रगुप्त का नया चाणक्य स्वगत कथन कर रहा है। अन्तिम वाक्य परम गाँधीवादी गुप्तजी को अच्छा न लगा बोले—-अब चुप करो, कितने आवेश में कितना बोल गये डॉक्टरों ने मना किया है बोलने को और शुरू हुआ तो रुकता नहीं। न मानोगे तो मैं पुलिस बुलाऊँगा। उन्होंने सस्मित कहा—टण्डन जी आपके साथ पुराना मुखबिर लगा है—सावधान रहियेगा। फिर परिहास और पानपत्ते के साथ 'दरबार बरख्वास्त' हुआ।

उन लोगों के जाने के बाद मुहल्ले के एक राजभक्त जिमींदार ने कहा'— का ई सब कहत हउअ अंगरेजन क सोर पताल तक हौ नून बनउले झण्डा उठउले चल जइहैं।' वे अपने समीपी लोगों से स्थानीय बोलचाल की भाषा में ही बोलते थे और ये जिमींदार महोदय उनके पुराने 'संगी' रहे उनके इस कथन के उत्तर में उन्होंने व्यंग्य पूर्वक कहा 'तोहरौ बेटवा त टाउनहाल के मीटिंग में लाठी खाय के तोहार अध धोअलेस ओके का गाँधीजी पकड़ के ले गैल रहलन ? दस पन्द्रह बरिस और जिमीदारी कै ल रिआया के घामे बैठाय ल, अंग्रेज त जइबै करिहैं ओनकर वारिस तोहंऊ लोग लावारिस हो जइबऽतव न अंग्रेजी चली न फारसी अपनै भाषा हिन्दी में कुल काम होई समझत हउअ इहै राष्ट्र-भाषा होई।'

असहयोग आन्दोलन (१९२१) से अन्त तक उन्होंने खादी ही पहना वह भी बारीक नहीं : शेषवसन के लिए भी खादी का ही निर्देश रहा। उन दिनों स्वयंसेवक कन्धे पर खादी लेकर घर-घर घूम कर बेचते थे। कभी-कभी किसी स्वयंसेवक को वे पूरा भारमुक्त कर सब खरीद लेते थे। चरखा सिद्धान्त में विश्वास न रखने पर भी उन्होंने अनेक चरखे मँगा कर बाटे। स्वयंसेवक शिविरों में अन्न आदि भेजते थे। किन्तु असहयोग को वे क्रान्ति का प्रचार पक्ष समझते थे। स्वतः वणिक् होने पर भी कांग्रेस में इस वर्ग के बाहुल्य को शंका की दृष्टि से देखते थे कि "वनिये बड़े चालाक हैं सोचते हैं कि कल इनका राज्य हो जायगा तो अभी से घुसे रहें, फायदा होगा।" यह सब अप्रगट ढंग से करने पर भी क्रान्तिकारियों के प्रति उनमें एकान्त ममत्व था। "मरने के कौशल में तो भारत शतियों से बाध्यतः निष्णात है। मारने के कौशल से घबराता है : इन क्रान्तिकारियों के पास दोनों कौशल हैं"—कभी यह बात भी कही थी। थाने के सामने चन्द्रशेखर आजाद को कोड़े खा कर बारम्बार वन्देमातरम् का घोष करने पर उन्होंने शाबाशी ही नहीं बाद में और भी कुछ दिया। प्रायः दस मास व्यापी क्षय रोग में नित्य अपराह्न के

वाद ज्वर बढ़ता अ र रात्रि के दूसरे प्रहर से कम होता था। कुछ दिनों के वीत जाने पर जब देह अधिक दुर्वल हो गया तव ज्वर-वेग अभिभूत कर लेता था और दो वार प्रलाप की दशा भी आयी। किन्तु, प्रलाप के वाक्य उस ज्ञान-विज्ञान से तनिक भी मेल न खाते जो उनके अधीन था, नितान्त भिन्न बात। एक वार कहने लगे "उस नीली मोटर में जो साहव वैठा था उसे किस जगह गोली लगी ? शव गया ? मोटर तो खड़ी है, सुन्दर है नीली नीली। कोई पकड़ा तो नहीं गया ? देखो।" अभी देखता हूँ कह कर मुझे तेजी से उनके वचनानुकूल हटना पड़ा वाहर से लौट कर वता दिया शव चला गया कोई गिरफ्तारी नहीं हुई। फिर वोले "वाह वड़ी जल्दी पता लगा लिया, गये थे या झूठ बोलते हो" प्रतीत होता था, तव 'कोमा' में भी काल-कार्य-घटना सब की सम्पन्नता का आनुपातिक अनुमान ध्यान में था, उनका सन्देह यह प्रगट करता है। उपप्लव का अवसर आने पर रक्षार्थ कलम की जगह खड्ग ने भी लिया : उनके व्यक्तित्त्व का यह वहुमुखी शौर्य पात्रों से उभरा है : सर्वथा स्वाधीन रहने की बलवती अभीप्सा नाटकों में प्रगट हुई।

ये सन्दर्भ उनके व्यक्तित्व के विभिन्न कोणों में से कुछ ऐसे हैं जो नाटकों का यथार्थ पाने में सहायक होंगें। उनके द्वारा हुई नाट्य परम्परा में क्रान्ति का प्रसंग यहाँ सैकड़ों वर्षों से सुलगती दासता की निर्धूम अग्नि को फूंक फूंक कर प्रज्ज्वलित करने के प्रयत्न से मूलतः प्रसक्त है। हाँ, यह दासता केवल राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक ही नहीं अपितु प्रमुखतः वैचारिक परिधि में उनके सम्मुख मूलतः और सदैव चिन्त्य रही।

अग्निमित्र उनकी शेष नाट्य कृति है, जिसके केवल दो दृश्य लिखे गये। यह कामायनी के वाद की कृति है, जहाँ शिवधर्मिता और लोक-धर्मिता समानान्तर चल कर अनन्य हो गई हैं : सुतराम्, वैसे रसपाक की फलश्रुति इसमें अनायासतः सुलभ है।

आज भी मानवता के सम्मुख खड़ा शाश्वत और बृहत्तम प्रश्न अग्नि-मित्र में सेनानी पुष्यमित्र के मुख से निकलता है—मैं क्या करूँ ? 'अग्नि-

मित्र' में उठाये गये इस प्रश्न का उत्तर-विस्तार यद्यपि पूरा न हो पाया और यह नाटक कुछ नाटकीय दशावश उपन्यास के अभिनय की तैयारी करने लगा और 'इरावती' की भूमि पर आ गया : जिसकी चर्चा आगे होगी। 'मैं क्या करूँ ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जिसमें सभी प्रश्न समा जाते हैं। सर्वेपदा : हस्ति पदे निमग्ना। और इतने बड़े प्रश्न का उत्तर भी कौन दे ? तो, प्रतिवचनार्थ पतंजति प्रस्तुत होते हैं। कौन पतंजलि ? जिन्हें हमारी परम्परा शेष का अवतार और भगवद्विग्रह मानती है : उनका कार्य-व्यापार भी तदनुकूल रहा। पूज्य पिताजी की अवतार परिभाषा थी "जो कृतकर्म को पूर्णतः ईश्वर कृत ही माने और जाने वही अवतार है" वह एक ऐसा सूत्र है जिसकी मीमांसा स्थलोपयोगी न होकर एक स्वतन्त्र विषय है। भारतीय परम्परा के चार व्यक्तित्वों पतंजलि, अभिनवगुप्त, सौमित्र-लक्ष्मण और वलराम के प्रति उनके मन में विशिष्ट स्थान था। और विलक्षण वात है कि ये सभी शेष के अवतार माने जाते हैं। अस्तु। मैं क्या करूँ ? के उत्तर में पतजलि अपनी सम्पूर्ण चरित-निधि खोलकर कहते हैं—"यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है। मैं क्या करूँ ? इस विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले। जो मन से कायर शरीर से शिथिल होने पर भी वचन का ही वीर है, उससे कुछ नहीं होता। विश्व शक्ति-तरंग है। वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने को कुछ न समझनेवाले प्राणी से अनुकरण करने की वस्तु नहीं। सेनानी का पूरक प्रश्न आता है—"आर्य ! तव क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जानेवाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है ? आर्य जाति कहाँ जा रही है ? और"—बीच से काटते पतंजलि कहते हैं—"जहाँ उसे जाना है, चित्-शक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है। तुम शास्त्र-धर्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हों (आकाश की ओर देखकर) तो क्या अभी वह समय नहीं आया कि भैरव-स्पन्द से जड़ता काँप उठे और आत्मशक्ति

उस तीव्र दाहक शक्ति का वज्र ज्वलन तेज उत्पन्न करें जिसमें पाप और पुण्य के दुर्बल शलभ भस्म हो जायँ। सेनापति ! तुम कुछ कर सकोगे ? हाँ अवश्य करोगे जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण वुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है। उसे आनन्द पथ पर ले चलने की क्षमता तुम में अन्तर्निहित है। दुःखवाद की निद्रा छोड़कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग है, तो मंगलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पंचकृत्य करने में कुशल चिरानन्दमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो। तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे। वही करोगे जो होना चाहिए।" भौतिक से वैचारिक स्तर पर्यन्त स्फीत क्रान्ति और उत्क्रान्ति के समस्त आयाम इन पंक्तियों से आलोकित हैं।

इस अग्निमित्र नाटक का जो सैनिक कुक्कटाराम को सम्वोधित कर कहता है "न जाने कव तुम्हारे इस कुक्कटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमें वन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य करने के लिए स्वतन्त्र होगी" स्वयं अग्निमित्र है (द्रष्टव्य-इरावती)। कुक्कटराम लाक्षणिकतः पतंजलि द्वारा इंगित "क्षत्रिय-दार्शनिकता" के दुर्ग किंवा बुद्धिवाद के वन्दीगृह का प्रतीक है। इस "क्षत्रिय दार्शनिकता" ने समाज की दुर्वल इकाइयों को एकत्र कर जिस संघ की रचना की श्रमण गौतम की दृष्टि उसमें चाहे जो भी रही हो परवर्ती काल में तो वह ब्राह्मण यज्ञवाद के प्रतिकारी सामाजिक-अकर्मवाद का एक अनायास व्यूह बन गया। यज्ञवाद से तात्पर्य कर्मवाद का ही लेना होगा (यज्ञो वै कर्मः)। उन दुर्बल इकाइयों का भी उपकार कहाँ हो पाया जिनकी मातृभूमि के द्वार जातीय निर्वीर्यता के प्रभंजन से खुल गये और विदेशी आक्रामकों का अतिचार निर्वाध हो गया : अहिंसा का डिण्डमनाद इतिहास का यह तथ्य दवाने में असमर्थ रहा। क्षत्रिय दार्शनिकता किंवा अकर्मवाद के व्यूह में उनके निहित स्वार्थ आकलित और रक्षित हो गये (विपुल द्रव्यसंघात वाले आज के मठ उसी व्यूह के ध्वंसावशेष हैं)। इस प्रकार राजशक्ति और

प्रजावल उभय को अभिभूत कर क्षत्रिय-दार्शनिकता किंवा श्रमण गौतम की अहिंसा क्षात्रधर्म की स्वमेव प्रतिक्रिया बन गई फिर तो अकर्मण्यता और पलायन की प्रेरणा से राष्ट्र के कर्मवाद और आत्मतेज पर प्रतीप-मेंघ का घिरना कुछ कठिन न था। अशोक राजा की धर्मविजय ने भारत का जो उपकारी–गुणकारी स्वरूप विदेशों में उजागर किया उसने लोलुप आक्रामकों के मुँह में पानी भर दिया और हीन-समाज यायावरों ने सहज समृद्धि की एक सुगम दिशा पाई : आगे चल कर इन कुक्कुटारामों की राष्ट्रद्रोहिणी छाया उन्हें विश्राम और वल देने लगी।

श्रद्धावाक्य "क्षणिक विनाशों स्थिर मंगल चुपके से हँसता क्या? (कामायनी-कर्म सर्ग) की तत्स्वरा पक्ति "अग्निमित्र के पतंजलि द्वारा कही जा रही है"—चित् शक्ति अपने अभावपक्ष की लीला देख रही है : 'प्रोज्ज्वल विश्वमानवता की कामायनी मुख से घोषित फलश्रुति 'शक्ति-शाली हो विजयी वनो विश्व में गूंजे रहा जयगान' अतएव 'डरो मत अरे अमृत संतान अग्रसर है मंगलमय वृद्धि' की लय में पतंजलि कहते हैं—'चिरानन्दमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो, तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे, वही करोगे जो होना चाहिए (पूर्वकथित अवतार परिभाषा इस सन्दर्भ में तुलनीय है)।

कामायनी के अनन्तर ऐसे ही वाक्य अनायास थे : मानस की गहराई में डूबकर गुसाईंजी की अनुभूति भी कहती है—"चाहत कीन करावत सोई।"

विश्ववीज के अन्तर्भूत डमरू और शृंग का समन्वित निनाद अग्नि-मित्र-लेखक द्वारा कामायनी के 'रहस्य' चिन्तन में सुना जा चुका था ओर विश्व की तथता को शक्तितरंग-रूप में देखा जा चुका था : और वैसे देखने सुनने के 'आनन्द' में 'यह मूर्त्त विश्व सचराचर चिति का विराट वपु मंगल' रूपेण अनुभूत हो चुका था।

उस वाङ्मय चैतन्य के गोमुख (उत्स) का कथन, जिससे विश्वमूर्त्ति की रचना होती है, शृंग की अविभागा ध्वनि और डमरू के मिलितविविक्त

नाद में प्रतीकाश्रित है। निस्तरंग में अग्रभाव (काम) की प्रस्तावना अथवा उदय की भावमूर्त्ति शृंग द्वारा कथित होती है जो रिरंसा-योग से शृंगार पदवाच्य हो जाता है। मिलित-विविक्त-नादकारी डमरू ऊर्ध्वमुखी शिवत्रिकोण एवं अधोमुखी शक्तित्रिकोण का मिलित वित्रिक्त रूपाकार है।

अविभागा ध्वनि की प्रान्तरेखा पर उन्मनी विज्ञानमयी पश्यन्ती दशा अनुभूत होती हैं जो अवतरण क्रम में भागांकुरा और बुद्धि-पदीया-वाक्-अर्थ की मिलित-विविक्त भावरुपवती मध्यमा के रूप में प्रकाशित होती है। डमरू से निःसृत १४ माहेश्वर सूत्रों की यह भूमि है जहाँ अव्याकृत की व्याकृति का आरंभण होता है सुतराम् वे ही सूत्र व्याकरण के आधार हुये। चरम व्याकृति होती है विश्वरूप बैखरी में :वागानुक्रम यहाँ मूलत : प्राणपद पर अधिष्ठित और परिणामतः देहपद में प्रतिष्ठित है : सुतराम् कहा गया "वैखरी विश्व विग्रहा" जिसके अन्तराल में शृंग और डमरू निनाद के प्रतीकाश्रित पश्यन्ती मध्यमा दशायें सामान्य-स्पन्दभूत प्रस्तुत रहती है। पार्थिव आधार-भूमि ग्रहण कर कुल-शक्ति अकुल से पृथक् भासित होती है। विश्व प्रपंच का उदय होता है। इस रहस्य के अनावृत होने पर दशा, देश और काल के त्रिकोण में शृंग और डमरू का वही अनुस्यूत निनाद जागृत हो उठता है जिससे प्रलय पावक का शक्तितरंग इस त्रिकोण में निखर उठता है और सकल विश्व की परिभाषा में पतंजलि कहते हैं विश्वतरंग है। वह शक्ति तरंग प्रलयपावक का है जिसमें समस्त भिन्नावभास प्रलीन हों जाते हैं-और अग्निमित्र में-पतंजलि द्वारा वह अग्नि परिभाषित होता हैं जिसमें पाप और पुण्य के दुर्वल शलभ भस्म हो जायें। चिद्गगनचुम्बी वह वज्र-ज्वलन आत्मतेज अधिभूत के भी उद्धरणार्थ अग्निामित्र-पतंजलि के चरित में पुंजीभूत है।

कामायनी में भी उस शक्ति शरीरी का 'केवल' प्रकाश पा मनु कहते हैं—'यह क्या श्रद्धे बस तू ले चल, उन चरणों तक दे निज सम्वल, सव पाप पुण्य जिसमें जल-जल, पावन बन जाते हैं निर्मल।' सुतराम् पावक सामान्य अग्नि नहीं प्रत्युत ऐसी पावनी क्रिया की पुंजीभूत संज्ञा

जिसमें समस्त कर्म बीज तक दग्ध हो जायँ, का कारक—प्रतीक है जो आत्म-शक्ति और प्राणपद के अरणि-मन्थन से उद्बुद्ध होता हैं । इस अग्नि को गीता ज्ञानाग्नि कहती है और कौलमार्ग में मिलता है—

अन्तर्निरन्तरमनिन्धनमेधमाने मायान्धकारपरिपन्थिनि सम्विदग्नौ ।
कस्मिश्चिदद्भुतमरीचिविकाशिभूमौ विश्वंजुहोमि वसुधादिशिवाव-
सानम् ॥

किन्तु अग्निमित्र पूरा न हुआ और उसकी भावभूमि इरावती की भूमिका मैं उतर चली : वह भी अपरिसमाप्त ही रही । इस घटना के क्यों और कैसे के उत्तर में समकालीन हिन्दी जगत् का एक घरेलू-मार्मिक सन्दर्भ प्रसंगवश बताते बनता है ।

बात सन् १९३५ की है । पूज्य पिता जी सूर्योदय से प्रायः आधा घण्टा पूर्व निकट के बेनियाबाग में नित्य घूमने जाया करते थे । उस बाग के उत्तरी छोर पर एक लाल ईंटों के मकान में मुंशी प्रेमचन्द तब रहते थे । बाग के पहले चक्कर में हीं वे प्रायः पूज्य पिताजी के साथ हो लेते : बेढबजी (श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़) एवं अन्य लोग भी जुटते ओर सुधी लोगों की एक "जमात" घंटे डेढ़ घंटे टहलती थी । सन् १९३४ में मुंशीजी प्रायः एक वर्ष के लिए एक फिल्मी अनुबन्ध पर बम्बई में रहे (अजन्ता सिनोटोन में) । उस दुनियाँ में पहुँच कर जो घुटन और वितृष्णा उन्हें हुई उसको उन्होंने पूज्य पिताजी को १ अक्टूबर ३४ के पत्र में व्यक्त किया है (द्रष्टव्य-प्रसाद के नाम पत्र, पृ० ६२, ६३) । उनके टूटे स्वास्थ्य को वहाँ के जलवायु तथा निराशा ने और भी जीर्ण कर दिया । उनकी उदर-व्याधि और कटिवात दोनों प्रबल हो गये और वैसी अवस्था में प्रभात-चंक्रम की उनके लिए भी आवश्यकता थी । उस चंक्रम-पथ पर साहित्य-दर्शन-समाज और राजनीति के विचार भी साथ घूमते । उस समय सभी क्षेत्रों में गरम और नरम दल थे और उस जमात में विचारों की वे जमातें जोरदार बहसें रखतीं । ये बहसें कुछ को दिमागी खूराक पहुँचाने का काम करतीं विचारों के पुंज जुटते और फैलते : इसलिए यह

प्रभात चंक्रम जहाँ सविता से ज्योति और गति की भिक्षा लेकर दिवस की कर्म-यात्रा के लिए पाथेय जुटाता वहीं परस्पर के एकांत्र-चिन्तन की सूक्ति-नक्षत्रमालिका एक की दूसरे को, दूसरे की तीसरे को अपनी भावनाओं के आकाश से उतार पहना देता था।

अस्तु, एक दिन मुन्शी जी ने पूछा—'प्रसाद जी आज कल क्या लिख रहे हैं ?

'अग्निमित्र ।'

'यह कौन सी वला है ?'

'नाटक ।'

'हद हो गई अजी जनाव नाटक तो वहुत लिख चुके जरा उपन्यासों की वहार पर तो गौर फर्माइए । (सामने उपन्यास वहार आफिस एक जासूसी उपन्यासों के प्रकाशन का संस्थान था) और फिर मुन्शीजी ने अपना अप्रतिम कहकहा लगाया । वे धनी मूँछे जो रूस के मैक्सिम गौर्की और भारत के मुन्शी प्रेमचन्द में सहोदर भाव जतातीं और एक दूसरे में भ्रम उत्पन्न करतीं ठहाके के वेग से हिलीं और फिर शान्त भाव से हिन्दी की एक ऐतिहासिक आवश्यकता घोषित करने के लिए स्थिर हो गईं। गोर्की के समीप था लेनिन किन्तु मुन्शी के समीप ? प्रथम तो यहाँ कोई लेनिन न था । विप्लव की चेतना के असमंजस और अवसन्न उपशामक महात्मा गांधी अवश्य थे किन्तु मुन्शी से दूर और वकौल निराला जी के हिन्दी, हिन्दुस्तानी और बुनियादी तालीम के चौखटे में कुछ अपनी दृष्टि से उपयोगी लेखक—मीमांसकों को 'मुहीद' कर उतने से ही सन्तुष्ट रहे । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति होकर भी हिन्दी उन्हें जितना समीप चाहती थी, कदाचित वे न हो सके । अस्तु मुन्शीजी में समाज की जो पीड़ा विलखती थी उसे सहृदय और उनके साहित्यिक मित्र वन्द कमरों या ऐसी चलती-फिरती गोष्ठियों में ही समझ लेते और मुन्शीजी उतने मात्र से सन्तुष्ट रहने को वाध्य थे—उनके समीप लेनिन तो था नहीं जो उस विलख को अपनी कर्मठता का आधार बना आत्मसात् कर लेता और परिणामतः एक नए समाज की दृढ़ मूर्त्ति गढ़ता । किन्तु समय

की आवश्यकताओं को पुकारता वह समाज उनके समीप अवश्य था जो लेनिन और गाँधी को जन्म देता है और गोर्की तथा मुन्शी की वाणी में मुखरित होता है। उस दिन संभवतः समय की आवश्यकता एक विशिष्ट प्रकार से मुखर हुई। 'उपन्यास बहार आफिस' की ओर इंगित के गम्भीर श्लेष ने अग्निमित्र लिखनेवाले को जाने क्या-क्या सोचने को बाध्य किया होगा? कौन जाने? फिर एक धवल हास के अनुगमन में सुना गया उपन्यास बहार या बुहार, और स्थिति में गम्भीरता आ गई। पिताजी ने बताया कि उनकी योजना शुंगकाल से पूर्व मध्यकाल तक फैले इतिहास के एक हजार वर्षों के उत्कर्ष और विषाद भरे जन सामान्य की चेतना को प्रगति-गाथा बारह नाटकों में चित्रित—अंकित करने की हैं, तथा एक महानाटक 'इन्द्र' पर लिखने की है जो आर्य आत्मवाद का सिद्धान्त विन्दु है। कदाचित्, कामायनी में मानवी चेतना के आतिवाहिक और कालनिरपेक्ष इतिहास के काल-सापेक्ष, मूर्त्त और उत्तर-प्रतिरूप—इन्द्र पर उन्हें अन्तिम नाटक देना था। इस संकल्पित महानाटक के नायक इन्द्र पर भी बहुत पहले मनन हो चुका था। इन्द्र की भूमिका में कदाचित् कामायनी के प्राप्त चैतन्य एवं आत्मस्पन्द मनु की मानुषी मूर्त्ति अपने अधिभूत एवं अध्यात्मगत उपलब्धियों का सम्पूर्ण शौर्य लिए चरित होती। संवत् १९८४ की श्रीपञ्चमी (माघ शुक्ल ५) से कामायनी लिपि-विग्रहा होने लगी और १९८५ में आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट इन्द्र" प्रकाशित हुआ है (कोशीत्सव स्मारक संग्रह—ना० प्र० सभा काशी): जिसे सुविधा पूर्वक उस महानाटक का उपोद्घात या प्राक्कथन कहा जा सकता है। किन्तु उस नाटक माला का मेरु अग्निमित्र, जो कदाचित् उन्हें विश्वम्भर के विग्रह, इस जगत् पर चिता भस्म का प्रलेप चढ़ाने का काल बताने आया था, अपनी पूरी गाथा भी न कह पाया कि उसके प्रकल्पक स्वयं अग्नि से अभिन्न देह हो अमृतसेतु के पार चले गए और उसकी प्रतिमूर्ति इरावती में लिखा गया वह अन्तिम वाक्य 'वर्षा कुछ कम....' भी पूरा न हो पाया।

भारतीय इतिहास की यह एक सहस्र वर्षों की (ई० पू० दूसरी शती से बारहवीं शती तक) परिधि उनके प्रस्तावित नाटक-शृंखला को कड़ियाँ देती जिसमें पतंजलि से विज्ञानेश्वर तक का चिन्तन, अग्निमित्र से पृथ्वीराज पर्यन्त नाना शासन-शौर्य के प्रयोग, भारवि से भर्तृहरि तक तक का विपुल साहित्य और वाकाटक—पाल वास्तु-शिल्प की अप्रतिम कृतियाँ—कारणभूत हैं। अन्यत्र विरल भारतीय इतिहास की यह परिधि दूरपरिणामिनी और विचित्रत : घटना संकुल है। यह हेतु-युग कहा जाने योग्य है जिसके अनन्तर आया परिणाम युग जो अभी अपनी विपाक-प्रतीक्षा कर रहा है। सुतराम् इस इस हेतुयुग से उन नाटकों के उपादान गठित हो समाज को परिणाम-सजग और कल्याणभूमा दृष्टि देते। कदाचित् इसीलिए वे परिणाम युग के तत्वों को उपादान नहीं बनाना चाहते थे; कुछ और भी कारण थे। जिनकी चर्चा यहाँ उतनी प्रासंगिक नहीं।

इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि इस शुंगकाल के महत्व की ओर उनकी दृष्टि अग्निमित्र लिखने से प्रायः पचीस वर्ष पूर्व जा चुकी थी। किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों और सामाजिक प्रक्रियाओं के परीक्षण—आकलन की उनकी अपनी प्रणाली रही। सहसा एक वस्तु सम्मुख आते ही, एक विचार के उदित होते ही उस पर कुछ भी लिख मारने के पक्ष में वे कथमपि नहीं रहे। इस सन्दर्भ में विलक्षण ढंग से एक दिन आदरणीय राय कृष्णदास जी से कुछ जानने को मिला। उन्होंने मुझसे पूछा कि "यशोधर्मन् नाटक की पाण्डुलिपि तुम्हें मिली या नहीं।" मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं थी न तो वैसी कोई पाण्डुलिपि कभी मेरे देखने में आई थी। अतः अवाक् रह गया। उन्होंने तब कहा "निश्चय ही उसे उन्होंने नष्ट कर दिया, अरे वह अद्भुत नाटक था। कभी-कभी ऐसी बातें कह कर तंग किया करते थे इसलिए विश्वास नहीं हो रहा था कि इतने परिश्रम से ऐसा नाटक लिख कर वास्तव में जला देंगे किन्तु मुझसे ठीक ही कहते थे कि उसे जला दिया।" आदरणीय रायकृष्णदासजी ने

बताया कि 'एक समय यह मान्यता जड़ पकड़ने लगी थी कि यशोधर्मन्[1] ही कल्कि का अवतार रहा और उसी मान्यता के आधार पर उन्होंने उस पर कई अंकों का एक बड़ा नाटक लिखा, प्रायः कई महीने तक मेरे पास वह पाण्डुलिपि रही और मैंने उसे पढ़ा भी। किन्तु एक दिन सहसा उन्होंने ले लिया तो मैंने समझा सम्भव है कुछ उसमें और 'कारीगरी' करने की इच्छा है। किन्तु जब कई महीने बीत गये और मैंने उसके सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि उसे तो जला दिया। वे किसी भी तथ्य की पूरी पड़ताल किए बिना और स्वतः आश्वस्त हुए बिना अपनी कलम से नहीं निकालते थे और कभी-कभी तो एक-एक साधारण घटना के परिक्षण-विश्लेषण में प्रसादजी को वर्षों लग जाते थे।' 'आदरणीय राय कृष्णदासजी के इस तथ्योद्‌धाटन से उनकी शोध सजग रचना-प्रक्रिया का परिचय मिलता है। उन्होंने उक्त अवतार विषयक मान्यता की भी इस चर्चा में पुष्टि की।

शुंगकाल के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-सामाजिक महत्व को देखकर ही उन्होंने प्रस्तावित नाटक-शृङ्खला का इसे प्रस्थान-बिन्दु बनाया। मालविकाग्निमित्र की उनकी प्रति १८९० (निर्णय सागर) की है जिसमें पुष्यमित्र के पत्र और 'सेनानी पुष्यमित्रो' को उन्होंने विशेषतः वही वाली काली स्याही से रेखांकित किया है। ज्ञातव्य है कि पुस्तकों पर कहीं इक्के दुक्के ही उन्होंने चिह्न दिए और विचार-संकेत तो बहुत महत्व के स्थलों पर ही मिलते हैं और जो मिलते हैं वे गूढ़ संकेत देते हैं, अपनी उद्‌भावना और सूत्रात्मकता में उनकी भी एक शैली है : और प्रायः एक ऐसी दृष्टि रखते हैं जो उनके साहित्य में कहीं न कहीं अन्तःस्पन्दित हैं। संयोगवश मालविकाग्निमित्र की इस प्रति पर उनके हस्ताक्षर भी हैं, जो कम

१. मन्दसौर के यशोधर्मन् का शिलालेख द्रष्टव्य जिसमें हूण मिहिरिकुल को परास्त कर ब्रह्मपुत्र से पश्चिमी समुद्र और सिंहल से हिमवन्त तक विजित करने का उल्लेख है, (भाण्डार कर सूची सं० १८७० पंक्ति ६) किन्तु बौद्ध हुएनत्सांग ने मिहिरकुल को परास्त करने का श्रेय बौद्ध नृसिंहगुप्त बालादित्य (मगधराज) को दिया है।

पुस्तकों पर उपलब्ध है। अनुमान किया जा सकता है कि सर्जनात्मक अध्ययन के प्रारम्भिक दिनों में यह पुस्तक पढ़ी और चिह्नित की गई होगी, निश्चय ही इस शती के प्रथम दशक में। इस प्रसंग में उनके संग्रह में एक पुस्तक पंतजलि चरितम् उपलब्ध है : यद्यपि उस पर अंग्रेजी में उन्हीं के अक्षरों में प्राप्त है "This book is incomplete or unfinished" किन्तु उसके पंचम सर्ग के २४-२५-३१-३६-३८ पद्य रेखांकित है जहाँ पतंजलि की योग, वैद्यक और व्याकरणशास्त्रकारिता और वट पत्र पर नख द्वारा लिखित पातंजल-प्रबन्ध का उल्लेख है। किन्तु स्पष्टतः श्री रामचन्द्र दीक्षित कृत और ई० १८९५ में तुकाराम जावजी द्वारा प्रकाशित (बम्बई) इस पंतजलि चरितम् की बातें विशेषतः चन्द्रगुप्त का पंतजलि का शिष्य होना असंगत लगा होगा।

अग्निमित्र लिखने से पूर्व तद्गत शोध-विचार का अन्तिम चरण सम्भवतः १९३२ ईसवीय की जनवरी में पुरा हुआ जब कि उन्होने पुरी-यात्रा के समय हाथीगुम्फावाले खारवेल के अभिलेख का साक्षात् अध्ययन किया। अपने को उस काल में ले जाने पर मुझे अनुभव और स्मरण होता है कि उदयगिरि-खण्डगिरि (जहाँ वह अभिलेख है) पर उनकी भावमुद्रा इतिहास के अन्तराल में संलयन की सी हो गई थी। भुवनेश्वर से वहाँ का मार्ग, वे पहाड़ियाँ तव दूरारूढ़ थीं। परिजनों तथा शेष परिवार को उन्होने नीचे छोड़ दिया। मुझे भी वारित कर रहे थे किन्तु कुतहल ने मुझे बढ़ावा और हठ ने मेरा साथ दिया और उनके पीछे लगा हाथीगुम्फा के लयनो में घूम आया। समीप ही मंचपुरीवाला खारवेल की अग्रमाहिषी का भी अभिलेख था किन्तु कदाचित् उनके काम की कोई वस्तु वहाँ नहीं मिली, वास्तव में है भी वह केवल अर्पण औंर दान का शिलालेख। जंगली जन्तुओं की तब वहां वहुतायत थी और सूर्यास्त समीप था, स्थानीय जनों ने सचेत किया कि हमें चले जाना चाहिए। वास्तव में मोटर से लौटते समय एक दो वार झाड़ियों में चीते या तेंदुए जैसी आकृतियों के दर्शन भी हुए थे। किन्तु, लगता है वहाँ वे कुछ और रुकना चाहते थे। प्रायः

इन पचीस वर्षों के मनन-चिन्तन में नाटक-श्रृंखला की सामग्री जुट गयी थी। इरावती में खारवेल के वीणावादन में उसके गान्धर्वज्ञान का ऐतिहासिक तथ्य हाथी गुम्फा शिलालेख की पंचम् पंक्ति 'गन्धववेद बुधोदप नत गीत वादित संदसनाहि'—(गन्धर्व वेद बुधःदर्पनृत्य गीत वादित्र संदर्शनैः) द्वारा संवादित है। खारवेल द्वारा जिन मूर्त्ति का मगध से उद्धार एक राजनीतिक प्रतिक्रिया और प्रक्रियारूपेण ख्यात और वर्णित है किन्तु उन सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियों किंवा कलापक्षों को भी इरावती—अग्निमित्र कौशल से संकलित किये हैं : जो सम्यता, उनके शब्दों में 'सामाजिकता' के आधार हैं।

नाटकों की यह त्रयोदशी योजना मुंशीजी को नहीं रुची उनके समीप समय और उसके आवश्यकता की पुकार मुखर थी, कहा—'भई नाटक तो वहुत हुए, अब बन्द कीजिए, उपन्यास पर आइए। हमारे यहाँ मौलिक सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक सभी प्रकार के उपन्यासों की कमी है—वेहद कमी है और कंकाल-तितली के बाद आपकी कलम से कुछ ऐसे ही वेहतरींन उपन्यासों को पाने की ख्वाहिश है, यह ख्वाहिश हमारी ही नहीं हिन्दी की ही नहीं—सारे ज़माने की है, जिसे आप के सिवा उसे पूरी तौर पर दूसरा नहीं पूरा कर सकता जिसमें भूत, भविष्य और वर्त्तमान एक प्याले में हों—एक ही नेवाले में हों। मसि-योग की साधना में हम-प्याला और हम-नेवाला दो सुधियों ने दूर तक 'मुद्दे पर गौर फरमाया' होगा। मुंशीजी ने कहा भी था, 'मेरी इस माँग पर ज़रूर ग़ौर फरमाइए।'

कदाचित् यह माँग आज कोई नई नहीं थी। पहली बार सन् १९३० की २४ जनवरी को भी ऐसी माँग हुई थी—उस पत्र की छाया प्रति आगे संयुक्त है जिसमें मुंशीजी की 'फर्मायिश' और उनका 'नुक्तए नज़र' अपने यथार्थ में है। कदाचित् इन पंक्तियों के विस्तार में उनका प्रचुर साहित्य है। समाज के खोखलेपन पर कैसी तड़प और मनुष्यता सड़ते शव को देखकर, उसका कोई 'पुर्सांहाल' न पा कैसा आक्रोश उन पंक्तियों में है : वह एक देखने की, समझने की वस्तु तो है ही राह दिखाने-

वाला 'कुतुवनुमा' भी है, और प्रश्न होता है कि आज की प्रगति और यथार्थ इस राह पर कुछ आगे वढ़े या दूर छिटक गए हैं ? शब्दकाय मुंशीजी का भी यह प्रश्न हो सकता है ।

अब, वे लोग लौटकर गोवर्द्धन सराय घर पर आते है और उनके साथ होता है वह प्रसंग-व्यक्ति भी । प्रतीत होता है कि मुंशी के रूप में उस मनीषी और लोकाग्नि से दीप्त दधीचिकल्प साहित्य-तपस्वी ने यह भी कहा हो कि उपन्यास और कहानी के माध्यम से जनमानस में गहरी पैठ हो सकती है और फिर यह भी प्रसंग आया हो कि नाटक अपने पाठ्यरूप के अतिरिक्त दृश्यमयी सत्ता भी रखते हैं जो भाव-सत्य के चित्रण की 'चलती फिरती' तस्वीरों से सम्प्रेषणीयता का विपुल प्रसार करते हैं— साधारणीकरण की सम्भावना भी नाटकों में अधिक है । इस प्रकार की वातों का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि 'मुवाहसा' देर तक रहा और नाश्तापानी पान सुर्त्ती लाने के सिलसिले में 'नाटक' 'उपन्यास' ये दो शब्द वहुबार सुनने को मिले । प्रायः पहर भर की वह चर्चा आज यदि टेप में भरी होती तो कदाचित् कुछ अनुसन्धित्सुओं को प्रकाश मिलता और साथ ही कुछ के कन्धों पर दुर्वह वोझ भी आ पड़ता । अस्तु, यदि वैसा होता तब न ? आज तो हम अपनी मान्यताओं-पूर्वाग्रहों को समीक्षा के जामें में कस कर उभय के (प्रसाद और प्रेमचन्द के) साहित्य रथ पर लादने को स्वतन्त्र हैं । ढुलाई तो होगी ही ।

अग्निमित्र अपने कायिक विस्तार में पृथुलांग चाहे न हुआ हो किन्तु एक सम्यक् दृष्टि और अपना मूल-कथ्य कुछ ही वाक्यों में दे देता है । एवं उसके वाक्य सम्भावित रूपभाव का अभ्रान्त प्रकथन करते हैं । यह एक ऐसे समय की रचना है जब लिखनेवाला शब्द और भाव के शिल्प-शिखर से नये नये प्रकाश देने के प्रयोग में पूर्ण सक्षम हो चुका था ।

शुंग शब्द प्रवरवाची (पाणिनि ४–१–११७) होने के साथ ही सूक्ष्म कारण के विशद कार्य का प्रतीक भी है । कारणभूत बीज की अणुता के कार्यपरिणाम रूप में एक विशाल आकार ग्रहण करनेवाले वट-वृक्ष का

पर्याय इसीलिए शुंग है। छान्दोग्य उपनिषत् में शुंग शब्द का प्रयोग कारणभूत अन्न के कार्यगत देहपरक अर्थ में हुआ जहाँ 'शुंगेन मूलमन्विच्छ' कहा गया है (६–८–६)। सुतराम् शुंग शब्द अपनी भावगत व्यापकता में परिणामवाची है। अनेक ऐतिहासिक कारणों के परिणामस्वरूप शुंग-शासन भी अपने शब्द-भाव को सार्थक करता पूर्ववर्त्ती मौर्यराज सत्ता को निरस्त कर सिन्धु से गौड़ और कूर्माञ्चल से अवन्ति पर्यन्त विस्तृत हो गया। शुंगों के आदि पुरुष को लाट्यायन श्रौतसूत्र विश्वमित्र गोत्रीय पुरुष और भरद्वाज गोत्रीया कन्या की नियोगज सन्तान कहता है।

अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का शासनकाल १६१-१८४ ईसवीय पूर्व माना जाता है। तात्पर्य हुआ कि १८४ ईसवीय पूर्व बृहद्रथ के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अयोग्य मौर्य राजा का वध कर सत्ता हाथ में ले लिया। प्रजा में व्याप्त अविश्वास और असन्तोष के परिपाक में सेना विद्रोहिणी हो गई और एक विशाल सैन्य-प्रदर्शन के समय समूची सेना के समक्ष बृहद्रथ मार दिया गया। इस प्रसंग में हर्षचरित का कथन है। "प्रतिज्ञादुर्बलं बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताऽशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेशपुष्यमित्रः स्वामिनम्।" वायुपुराण का भी कथन है कि— "पुष्यमित्रस्तुसेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम्।" मत्स्य पुराण (२७१–२५–२६) एवं विष्णुपुराण (४ अंश २४ अ० ८–९) भी बृहद्रथ को अन्तिम मौर्य कहते हैं। सुतराम्, "अग्निमित्र" में पुष्यमित्र का स्वामी और अन्तिम मौर्य वृहद्रथ है। किन्तु इरावती में बृहस्पतिमित्र है जो हाथीगुम्फा अभिलेख में प्राप्त है। अग्निमित्र और इरावती में अन्तिम मौर्य का भिन्न नाम होना विचार्य है। पुष्य और बृहस्पति का सम्बन्ध अधिकृत और अधिकारी का है। बृहस्पति भी यदि लोक दायित्वो से च्युत हो अतिचारी और हीन हो जाय तो अमान्य ही नहीं अपितु वह वध्य भी है : और अपने यजमान इन्द्र के संकल्प अथवा ध्वज की उपेक्षा यहाँ वृहस्पति कर रहा है। बोध गया की वेष्टिनी पर कतिपय मित्र राजाओं का उल्लेख रहने से ऐसी मान्यता भी है कि मौर्यों के बाद मित्रवंश आया तदनन्तर शुंगों ने शासन

किया उसी मित्रवंश के वृहस्पतिमित्र ने खारवेल की वन्दना की और जिनमूर्त्ति लौटाई। किन्तु, फिर खारवेल-अग्निमित्र की समसामयिकता इतिहास-चिन्तन का विषय होगा, जो पृथक् विषय है।

हाथीगुम्फा वाला अभिलेख उस अन्तिम मगधराधजा को बृहस्पति मित्र कहता है : जिसने खारवेल की पादवन्दना की और तीन सौ वर्ष पूर्व नन्दराज द्वारा कलिंग से लायी गयी जिनमूर्त्ति लौटाई—

मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हथसं गंगाय
पायायति म ध च राजानं बहसतिमितं पादे
वंदापयति नन्दराज-नीतं च काग-जिनं संनिवेस····
अग-मगध-वसुं च नयतिं। (पक्ति १२)
(मागधानां च विपुलं भयं जनयन् हस्त्यश्वं गंगायां पाययति
मागधं च राजानं बृहस्पतिमित्रं पादौवन्दयति नन्दराज
नीतं च कलिगं-जिनं सन्निवेश····अगं-मगध-वसुं च नयति)

खारवेल का यह पराक्रम उसके शासन के वारहवें वर्ष का है : इसके चार वर्ष पूर्व से ही मगध के द्वार उसके लिये उन्मुक्त हो चुके थे। अभिलेख की आठवीं पंक्ति में प्राप्त आशय "अष्टमे च वर्षे महता सेनया गोरथगिरिंधातयित्वा राजगृहं उपपीडयति एतेन कर्मापदान संनादेन सेना वाहनं विप्रमुक्तं मधुरां अपयातः यवनराजः डिमितः" उसके विक्रम का उल्लेख करने के साथ ही कुछ और तथ्य बता रहा है। खारवेल के पराक्रम से भीत दिमित्र (डिमित) मथुरा चला गया। अयोध्या अभिलेख पुष्यमित्र के दो अश्वमेधों का उल्लेख करता है। विक्रमोवर्शीय में पुष्यमित्र के अश्व-मेध में उपस्थित होने के लिये उसके पुत्र और उज्जयिनी शासक अग्नि-मित्र को जो पत्र मिलता है उसमें सिन्धुतट पर श्यामकर्ण (अश्व) के पकड़े जाने और वसुमित्र (अग्निमित्र के पुत्र) का पराक्रम और अश्वोद्धार वर्णित है। निश्चय ही उत्तरापथ का घटना चक्र यवनों के नितान्त प्रतिकूल बन गया था।

अशोकोत्तर प्रतिपुरुष क्षीण होती मगधराजतन्त्र की ज्योति खारवेल

की दूसरी आँधी में जब उसके चरणों में झुकी होगी तब मगध का सम्पूर्ण क्षोभ का पुष्यमित्र के कृपाण में उतर आया होगा, यह कुछ अस्वाभाविक नहीं। प्रतीत होता है कि खारवेल जब शासन के आठवें वर्ष राजगृह तक आया चाहे देवपूजा के बहाने ही आया हो मगध का बल उसे अनुमित हो गया होगा और दूसरी बार १२वें वर्ष उसके हाथी सुगांग के समीप थे। उसके पहले अभियान से दिमित्र यह जान साकेत से मथुरा भाग गया होगा कि मगध कलिंग जुट कर उससे लड़ने आ रहे हैं। दूसरे अभियान में वह मगध राज से अपनी वन्दना करवा कर जिनमूर्त्ति ले गया होगा और नदं एवं अशोक के कलिंग विजय का हिसाब एक सौदे में कर लिया होगा। यह भूमिका अन्तिम मगध-राज के वध के लिये निश्चय ही पर्याप्त रही होगी फिर मगध की ऊर्जित जनशक्ति से समन्वित होना खारवेल जैसे विज्ञ-वीर को समीचीन लगा होगा। यवन सन्दर्भ में उसने प्रत्यन्त नीति पर पूरा विचार किया होगा अन्यथा, कलिंग-मगध युद्ध चलता और पुण्यमित्र दो दो बार अश्वमेध न कर पाता। मगध की सीमा अवन्ति-मथुरा के उपकण्ठ तक पहुँच गई थी यही नहीं सिन्धु तट पर श्यामकर्ण के लिये उसका पौत्र लड़ता भी है। इतिहास की ऐसी जवीयसी दशा और तीव्रता से बदलते समाज के क्षण-चित्र को अग्निमित्र नाटक अथवा इरावती उपन्यास का आधार बनाया गया किन्तु दोनों ही अधूरे रह गये: महाकाल की इच्छा ही कहते बनता है।

यह शुंगकाल भारत के इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। यूनान की यवन अपराजेयता को सिंधु और कुभा में सहसा बहा देनेवाली मौर्य राज-सत्ता का दुर्घर्य चक्रवर्त्तित्व और अदृष्टपूर्व भविष्य का साक्षात्कथन करनेवाली आर्यावर्त्त की ऋतम्भरा मेधायें सभी अशोक-शासन के उत्तरकाल में कषाय पहन चुके थे। अशोक ने अपने धर्मविजय के प्रसंग में जीव-सेवा के निमित्त दक्षिण में सिंहल और पश्चिम में मेसिडोनिया पर्यन्त जो थेर-समुदाय भेजे उनमें धर्म-प्रचारकों के अतिरिक्त काय-चिकित्सकों के भी वर्ग थे। उस धर्मदेशना ने पुष्कलावती से मेसिडोनिया

पर्यन्त विस्तृत मानव-समाज के जीवन और विचारधारा को कहाँ तक प्रभावित किया यह कहना यहाँ सम्भव नहीं किन्तु थेरों के औषधि-विज्ञान का, जो कि प्राणी का साक्षात् 'कष्टापहारक है उधर पर्याप्त स्वागत और प्रचार हुआ। निश्चय ही पश्चिम के औषधि-विज्ञान की 'थेराप्यूटिक' संज्ञा इसकी परिचायिका है कि उसके केतुवाहक और उन्नायक वे भारतीय थेर या अशोक प्रेरित स्थविर लोग ही रहे। इस धर्माभियान का एक परिणाम यह अवश्य हुआ कि यवनों, शकों, हूणों, यूचियों, तातारों, पह्लवों और मंगोलों में भारत की अतुल सम्पत्ति पाने और सिन्धु-गंगा की लहरों से खेलनेवाली हेमशस्या धरणी पर शासन करने की उद्दाम लालसा उमड़ पड़ी। दारा के पारसीक महलों को लजानेवाले कुसुमपुर के प्रासाद को उन्होंने लक्ष्य वना लिया जिसे पाने की अभीप्सा कभी शान्त न हो सकी। उन भोले-भाले थेरों से वे सारी सूचनाएँ उन्हें अनायास मिलती गयी होंगी जो उनके बलप्रसार और कूटनीति के लिए उपादेय थीं। यहाँ के आभ्यन्तरिक विग्रह और बलाबल सभी के तथ्य उन्हें सुलभ होते रहे और इधर पाटलिपुत्र से पुष्कलावती और अहिच्छत्रा से अवन्ति पर्यन्त अभिजात-सिंहपराक्रम के स्थान पर गोदीनता के परिवेश में तब चतुरंगिणी नहीं अपितु भ्रष्ट प्राय भिक्खुओं की पदाति-चारिका कर रही थी। स्कन्धावारों का स्थान विहारों ने ले रखा था। ओजस्वी भारत, जैसे राष्ट्रव्यापी पाण्डु-रोग से ग्रस्त हो विरक्त अर्थात् विगत-रक्त हो चुका था। अतः, शुंगकाल को संक्रान्ति-काल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। आचार, विचार, धर्म, राजनीति में चिन्तन और जीवन के प्रति भारतीय दृष्टि कोण तब भीतरी और बाहरी संक्रमणों से प्रभावित हो गये थे। भारतीय महाजाति तथागत की अनुगामिनी तो हुई किन्तु उनके महासन्देश की धुरी "मज्झिमा पटिपदा" (मध्यमा प्रतिपदा) किंवा मध्यमार्ग को शास्त्रीय प्रकरणों में ही उसने सीमित रखा। व्यावहारिक परिवेश में उसे कोई स्थान नहीं मिला। श्रमणों ने असंग-प्रतिसंलयन के स्थान पर लोक-संगिता को वरीयता दी। विनय, शील और प्रज्ञा आदि सभी कुक्कुटाराम

की कामना के सांचे में ढलने लगे। संघाराम, अतिचारी के आतंक से मैत्री करने लगे,' विपुल ऐश्वर्य के स्वगत होने पर मुदित होने लगे, वहाँ राष्ट्र के आगामी कल की उपेक्षा का मन्त्र पाठ होने लगा और करुणा तो केवल चौपायों के प्रति ही सीमित रही। हाँ, उनकी आभिष-लोलुप-रसना का परितर्पण गृहपति के यहाँ हो जाता था कारण पिण्डपात में मिला मांस-व्यंजन "धम्म" का अन्तराय न था और पिण्डपात को अस्वीकार करना अथवा उसके प्रति अपनी रुचि का निर्देश करना भिक्खु के लिए "दुक्कट-दोष" का भागी बनना था। भोज़न की थाली के लिए मांस तब इतना आवश्यक था कि जिस अशोक राजा के महानस में सहस्रों जीवों का वध होता था; उसमें प्रियदर्शी के शीलग्रहण के बाद भी दो मोर और एक हिरण सूप-व्यंजन के लिए मारे ही जाते थे, कदाचित् उन तीन निरीहों की रक्षा करने में देवानांप्रिय की कलिंग के रण-स्मशान में जागृत करुणा अक्षम हो जाती थी। तथागत के मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को तब ऐसी दशा प्राप्त हो गयी थी। समाज की नौका के कर्णधार "धम्म" के अति-उत्साह में शासकीय-ऋत को भूल गये थे। यह धर्म-चेतना अपने अतिवादी रूपांतर में वैयक्तिक आग्रहों के लिए तर्क जुटाने में व्यस्त हो गई थी। फलतः, व्यष्टि-परक और स्थूल अहिंसाचार से पुण्य गत नाना उपलब्धियों की कल्पना ने भारतीय महाजति और उसके सांस्कृतिक-विक्रम की सामूहिक हिंसा का मार्ग सदैव के लिए खोल दिया। सुतराम पुण्य ही पाप बन गया। (प्रगट उसी से दोष हुआ है जो सबको गुणकारी था—कामायनी निर्वेद)। विश्व को अहिंसा का पावन सन्देश देनेवाला भारत सर्वतोभावेन अपनी सामूहिक हिंसा अपने ही आविष्कार अहिंसा से करने लगा। अशोक के उत्तराधिकारियों ने यह नहीं विचारा कि कलिंग-पराक्रम और प्रियदर्शी के बाद क्या होगा, शस्त्र के सर्वथा त्याग से धर्म कहाँ तक रक्षित रह सकेगा और उसकी आगामो कल के लिए क्या सार्थकता होगी।

कहना अनुचित न होगा कि तथागत के धर्मचक्रप्रवर्तन की प्रतिध्वनि

पाँच सौ वर्षों तक चली : जैसी उनकी भविष्यवाणी थी (सुत्तपिटक, अंगुत्तर निकाय—प्रजापती प्रवज्या सुत्त एवं मज्झिम निकाय, दक्षिणा विभंग सुत्तन्त, महाबोधि सभा बनारस संस्करण पृष्ठ ५८०)। बुद्धवाक्य है "आनन्द भविष्यकाल में भिक्षु नामधारी, काषायधारी, दुःशील, पाप-धर्मा होंगे। इन दुःशीलों को दान देंगे।" इतिहास इस वचन को यथा काल चरितार्थ करता है। 'मृषा न होंहि देव ऋषि वाणी।'

कालानुरोध को स्वीकार कर व्यवहारगत परिवर्तनों का पार्थेय रखने वाला धर्म ही अपने सनातनत्व में जीवित रह सकता है तथा लोकधर्मिणी राजनीति से निरपेक्ष रह कर ही उसके शाश्वत मूल्य सार्वायुष रह सकते हैं। यथार्थ और आदर्श के उभय कूलों में बहते काल के प्रवाह पर धर्म का सनातन संयान संचरित है, जिस पर आरूढ़ होकर हमें गन्तव्य तक पहुँचना है और पहुँच कर उस संयान का परित्याग भी करना है। तभी उस विरज, असंग या निर्वाण की दशा को पाया जा सकता है जिसकी ओर सभी ने इंगित किया चाहे वे कृष्ण हों अथवा बुद्ध, व्यास हों अथवा पतंजलि। कारण, धर्म साधन है साध्य तो नहीं : किसी यथार्थ की उप-लब्धि के लिए ही तो वह आचीर्ण होता है। अस्तु, एक भूल तो वहाँ होती है जहाँ धर्म को ही साध्य मान लिया जाता है और दूसरा प्रत्यवाय वहाँ उपस्थित होता है जहाँ धर्म संयान कूल-विशेष का आग्रही हो जाता है, चाहे वह आदर्श का हो अथवा यथार्थ का। वैसे आग्रह में वह एक के इतने निकट चला जाता है कि दूसरा कूल धर्म के ओझल हो जाता है, यह अतिवाद ही तो है—तथागत के मध्यमार्ग से कोसों दूर। सुतराम्, धर्म का मध्यस्थ रहना और राजनीति से असंश्लिष्ट रह उसके प्रति अनासक्त होना ही संस्कृति के लिए श्रेयस्कर है। सामूहिक मानवी-चेतना के अभ्युदय, राष्ट्रनीति के स्वस्थ विकास और निर्वाह एवं धर्म की धार्मि-कता के लिए भी ऐसा ही आवश्यक है। धर्म के मूल सनातनत्व, समाज की प्रगति और विकास के अर्थ एवं सतेज—राष्ट्र की ओजस्विनी राजनीति की प्रभविष्णुता के लिए दोनों को अपनी सीमा में रहना

चाहिए। किन्तु यह दुष्कर रहा, राज-सत्ता ने संरक्षण के बहाने धर्म का नियमन किया तथा धर्माधिकारी की दृष्टि सत्ता के प्रति लोलुप रही। फलतः एक-दूसरे के क्षेत्र को अतिक्रमित करने में दोनों की शक्ति का अपव्यय हुआ जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र के हित उपेक्षित होते गए और समाज का सांस्कृतिक—क्षितिज धुँधला बनता गया। इतिहास के पथ पर पड़े चिह्न और उस पर सामूहिक मानवी-चेतना के रथ द्वारा उरेही ऋजु-कुटिल रेखाएँ दोनों ही इसके साक्षी हैं कि जब भी धर्म अतिवादी हुआ परिणामस्वरूप समष्टि जीवन की सभी विधाओं पर उसका दूरगामी प्रभाव पड़ा है : विशेषतः शासन और अर्थतन्त्र की श्रेय-सत्ता व्याहत होने लगी हैं। धर्म के व्यक्तिनिष्ठ और व्यष्टिसेव्य मौलिक भाव के समष्टीकरण का चाहे जो ऐतिहासिक हेतु कभी रहा हो, चाहे जो भी आवश्यकता इसकी हुई हो : इसने विश्व में विघटन और विग्रह फैलाया। और, इसीलिए मानव रक्तपात जितना धर्म के नाम पर हुआ उतना मानवता की रक्षा के लिए नहीं।

इस "अग्निमित्र" का शुंगकाल ऐसे ही अतिवाद के विपाक का पहला अध्याय है। सोलह महाजनपदों के युग में भौतिक कर्मकाण्ड-शेष ब्राह्मण यज्ञवाद के अत्यय की प्रतिक्रिया में श्रामणी अहिंसा के अतिवाद की जैन परम्परा फैल चुकी थी, यद्यपि कर्मकाण्ड से उपरत हो उपनिषदीय ज्ञान-काण्ड पल्लवित हो चुका था किन्तु वह अरण्यों और गुहाओं में रहस्य की बात बनकर बसता था; जनजीवन के समीप वह न हो सका और लोगों के लिए उस पर दुरूहता का कुहासा छाया था। समाज के धरातल पर वह जब कभी भी आता भी था तो जनक के बहुदक्षिणा-यज्ञ जैसे सन्दर्भ में समवेत ब्रह्मवादियों की विचार-परिषदों के रूप में ही। जनजीवन के व्यावहारिक-स्तर को उसने छूने की चेष्टा नहीं की जब कि तीर्थंकर और तथागत के श्रमणों ने जनजीवन के निकटतम सम्पर्क में आकर विचार और व्यवहार की एक ऐसी सरणि सम्मुख रखी जिसमें न तो कर्ममाण्ड के विपुल द्रव्य-संघात की आवश्यकता थी न ज्ञान-काण्ड के ऊँचे

चिन्तन-शिखरों पर चढ़ने का आयास ही अपेक्षित रहा। कदाचित् तीर्थंकर मत की कठोर अहिंसा और कष्टसाध्य व्यवहार ने उसे उतना लोकप्रिय नहीं बनाया जितना तथागत के सरल मध्यमार्ग ने अपने को सर्वसुलभ और ग्रहणीय बनाया। कपिलवस्तु के कुमार सिद्धार्थ ने कपिल की ज्ञानगंगा को सोलह महाजनपदों में अपने भगीरथ प्रयास द्वारा बहाया और अनेक प्रणालियों से समष्टि के विचार-क्षेत्र को उर्वर किया। किन्तु तीर्थंकर और तथागत की अहिंसा भी जब अतिवाद की सीमा पार करती राष्ट्रनीति को अनुशासित करने लगी तब पुनः प्रतिक्रिया हुई और अश्वमेधों का युग आ गया। राष्ट्रीय अभीप्सा की अभिव्यक्ति में कालानुरोधेन प्रथम शुंग-शासक पुष्यमित्र ने दो अश्वमेधों का यजन किया (द्रष्टव्य-महाभाष्य, मालविकाग्निमित्र और धनदेव का अयोध्याशिलालेख) उस समय ये अश्वमेध एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रतीक और एकसूत्रीय राष्ट्र-पुरुष के उद्बोधन के निमित्त होते थे।

इतिहास के विकास-क्रम में तब राष्ट्र-चेतना व्यष्टि-प्रवण हो गई थी। नान्द-मौर्य शासन गणों को प्रायः निरस्त कर चुका था और प्रशासन के लिए भारतीय महाजाति में एक—मुखापेक्षिता घर कर गयी थी। वसुन्धरा वीर-भोग्या थी और जेता ही नेता होता था और सुगम शासन के लिए, समष्टि के विनयन के अर्थ धर्माधिकरणों का माध्यम उसे अयत्नसाध्य लगने लगा था। बहुधा प्रजा की धर्म-कातरता शासकीय उद्देश्य और अनुवर्त्तन की सिद्धि में सहायता देती थी। (धन की अति आवश्यकता होने पर मौर्यों ने सड़कों पर देव प्रतिमायें रखवा अर्थसंग्रह किया) इससे सामूहिक अनुशासन चाहे किसी सीमा तक होता रहा हो किन्तु व्यक्ति का मूल्यांक अपना सही स्तर नहीं पाता था। यह एक मुखापेक्षित्व का ही परिणाम था कि प्रबल सेनाएँ भी सेनानी के गिरते ही भाग खड़ी होती थीं। राजा के लिए धर्म की एक विधा-विशेष पकड़ कर उसे शासन की रीढ़ बनाना आवश्यक हो गया था। वह यदि ब्राह्मण-

धर्मा हुआ तो प्रजा को उपायन हस्त हो यज्ञों में जयकार करनी पड़ती थी और यदि श्रमणवादी हुआ तो उसे पिण्डपात और काषाय की व्यवस्था करनी पड़ती थी। विशेष-धर्म-सापेक्ष शासन का इसे अवश्यम्भावी परिणाम होना था।

रूढ़ि की रेखा से घिर कर धर्म का चिर-प्रवाही गतिमय रूप लुप्त हो गया। दशा, देश और काल के अनुरूप न तो स्मृतियों के नये प्रणयन हुए न पूर्व-प्रणीतों के यथानुकूल संस्कार की चेष्टा की गई। नितराम्, समाज में अगति और अवष्टम्भ की दशा शतियों से चलती आ रही है। तब, हम यह मान चुके थे कि जानते अनजानते वेदमन्त्र पड़ जाने वाले शुद्र के कानों को यावच्चन्द्र-दिवाकर पिघले सीसे से भरा जा सकेगा अथवा उस वर्ण के तपस्वी की हत्या करने के लिए श्रीराम के रूप में भगवान् सदैव अवतार लेते रहेंगे। ज्ञान का क्षेत्र विराट्-पुरुष की मुख-बाहु सन्तानों, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए आरक्षित कर दिया गया: उनमें भी अद्भुत कलह हुए, बाहु मुख को पीटने लगा मुख बाहु को काटने लगा। वशिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष और श्रीराम-परशुराम संग्राम इसके उदाहरण हैं। थोड़ी छूट उत्कोच के रूप में वैश्यों को अवश्य दी गई क्योंकि व्यवहार की मूल शक्ति अर्थ के वे स्वामी थे और सभी की फँसी गाड़ी वे ही निकालते थे। कदाचित् ज्ञान-शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने पर प्रच्छन्न उपहास और ईर्ष्या से वे भी पुरस्कृत होते थे। और चारों वर्णों की जननी-नारी? वह तो 'नरकस्य द्वारम्' थी। जिससे स्वर्ग के दावेदार आते थे, अद्भुत! समाज के इन दलित-उपेक्षित वर्गों के लिए तथागत एक वरदान-रूप आये। तिरस्कृत के संस्कारों में सुप्त, सद्व्यवहार पाने की तृष्णा संघाराम-सरोवर में मिटने लगी और आदर की भूख को पशु-सेवा से ऊबी नारी श्रामण्य-फल से मिटाने लगी। एवं-विध चिरन्तन असन्तोषवाले वर्गों के समूह संघों में एकत्र हुये। एक पृथक् समाज बना, जो अपने ऊपर हुए अत्याचारों को भूल न सका फिर उस तन्त्र

से उनका सहकार कैसे सम्भव था जिसके स्वामी उनके शोषक रहे हों। अन्तिम परिणति में राष्ट्र-हित की नितान्त उपेक्षा कर वे संघ-जुष्ट वर्ग विदेशी आक्रामकों के समीप चले गये। उच्चवर्गीय शासन तन्त्र के प्रतिक्षेप और उसे स्वायत्त कर लेने की अव्यक्त इच्छा ने इसे उत्साहित किया किन्तु राष्ट्रघात के प्रायश्चित स्वरूप उन्हें भी आगे चलकर आत्मदाह करना पड़ा। नालन्दा में एकत्र शतियों के राष्ट्रीय-परिश्रम के महान् फल, विद्या के अपार भाण्डार से उनकी चिता बनी और खिलजी-बख्तियार ने मुखाग्नि कर दिया। अनेक शतियों तक तो श्राद्ध करने वाले भी नहीं दिखे (बोधिमण्ड के समीप पिण्डपात कदाचित् बौद्ध-परम्परा रही है)। बाद में मैदान खाली पा सबको मिला पंचामृत बनाने वाले और आब्रह्मकीट को तिलोदक देने वाले हिन्दुओं ने वहाँ बोधिमण्ड के समीप अपना विष्णुपद रख दिया और बुद्ध को अवतार मान उन्हें पुराणेतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित कर दिया। बर्बरों से त्राण पाने के लिए अपने काषाय छोड़कर आये और हिन्दू बने बौद्धों ने इसमें उत्साह दिखाया। मूल हिन्दू निरपेक्ष रहा सोचा होगा; चलो बुद्ध भी तो क्षत्रिय रहे और अवतारों में बल सम्पन्न क्षत्रियों की कमी कहाँ है। किन्तु ये नवागन्तुक उच्चवर्ग में पूरी तरह घुल न पाये और पंच ध्यानी बुद्धों के ये उपासक हिन्दुओं में अनेक निम्न श्रेणियाँ गठित कर तुरुष्कसमीपी हो पाँच-पीरों की उपासना करने लगे कारण, अरब और तुर्किस्तान से विचारों-संस्कारों के अनेक काफिले आ चुके थे। अस्तु, धर्म-राजनीति के परस्पर मेलन, श्रमण-ब्राह्मणों की अहमअहमिका, एकराट् कल्पना में गणों का विनाश, इन सभी तत्वों ने संयोग-दुर्योग के संवलन में इतिहास को बहुत दूर तक प्रभावित किया। उस धर्म को जो अपने मौलिक रूप में साधन है, सिद्धि मानने का अभ्यास, समाज की प्रकृति बन गई। सुतराम् धर्मोत्तर चैतन्यमयी विश्वात्मभावना को अपने मूल चारुत्व–शिवत्व में न ग्रहण कर धर्मी एक कल्पित विश्वोत्तीर्णता के पीछे कुण्ठा की अँधेरी गलियों में सिर मारता रहा। इस बौद्धिक अतिवाद के परिणाम ने कामायनी में इड़ा के

मुख से कहा—"वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि उत्सर्ग करेंगे जाकर"। यह उत्सर्ग विश्वात्म मानव-कल्पना का सिद्धान्त-बिन्दु है जो लोक-परक व्यवहार में धर्मनिरपेक्षता के अन्वयन से हमें मानव-धर्म के सनातन मार्ग पर प्रेरित कर शाश्वत-कल्याण के कैलास पर पहुँचा सकता है। अहिंसा का उज्ज्वल पक्ष संयत-सहिष्णुता है : किन्तु अतिवाद ने वैसा होने नहीं दिया। निर्बलता के परिवेश में, रूढ़ियों की परवशता में, विदेशी अतिचारों को अपनी असहायता में सहते जाने में ही अहिंसा का स्वरूप नियत किया गया। यह मौलिक भूल आत्मघाती हुई जिसने हिंसा का उत्साह बढ़ाया। इस झोंक ने आगे बढ़कर आक्रामकों को केवल अवसर ही नहीं आमन्त्रण भी दिया।

गर्दभिल्ल और कालकार्चाय प्रसंग इस सन्दर्भ में अवलोकनीय है। खारवेल के वंशज ही गर्दभिल्ल राजा थे (जायसवाल)। जैनग्रन्थ तिलोय पण्णत्ति में अग्निमित्र के बाद एक शती तक गन्धर्वों का राज्य बताया गया है। संस्कृत के परवर्त्ती पुराणों में, यथा हरिवंश में "गंधव्वाणं" का "गधभाणं" बनना और उस जैन राजवंश को गर्दभ अथवा रासभ राजाओं का वंश कहना कोई आश्चर्य की बात नहीं। बौद्धमत सरलता से ब्राह्मणमत में घुल गया किन्तु जैन मत से उसका तनिक भी सामंजस्य न हो पाया। जितने ब्राह्मण देव महापुरुष आदि हुये, जैन वांग्मय ने सबको अन्त में अपने मत-कैवल्य से विभूषित किया चाहे वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हो अथवा भगवान् कृष्ण। ऐसी दशा में उस जैन राजवंश को रासभवंश कहना कठिन न था जिसके अन्तिम राजा ने मुनि-भगिनी का हठात् ग्रहण कर लिया था और उस तपोमूर्त्ति जैन मुनि कालकाचार्य को क्षोभवश जैन राजवंश के निर्नाशार्थ शकों को सौराष्ट्र-उज्जयिनी का मार्ग दिखाना पड़ा। ऐसे हीन चरित्र राजा को ब्राह्मण पुराणों ने रासभ कहा तो विस्मय क्या? किन्तु, खारवेल के इस वंश को तिलोय-पण्णत्ति का 'गंधव्वाणं' कहने से हाथीगुम्फा अभिलेख की उस पंक्ति की

ओर ध्यान जाता है जिसमें खारवेल को "गंधर्व वेद बुधः" कहा गया है : संभव है उसकी परम्परा में संगीतवृत्ति अक्षुण्ण चली आई हो और इस अनुश्रुति के समस्वर तिलोयपण्णति में वशं नाम "गंधव्वाण" प्राप्त है ।

अशोक के पश्चात् और शुंगों के अभ्युदय से पूर्व ऐसे व्यावर्त्त का पहला चरण रहा । यवन तब माध्यमिका (ताम्रावती-चितौड़ के समीप) से आगे साकेत की सीमा तक आगये थे (अरुणद्यवन साकेत-महाभाष्य) । मथुरा में उनका स्थायी स्कन्धावार लग चुका था । ऐसे अवसर पर, विदेशी आक्रमण की इस संकटपूर्ण घड़ी में तीर्थंकर के अनुयायी कलिंग-शासन ने मगध पर एक आघात किया । नन्द-राज द्वारा ले जाई गई जिनमूर्त्ति को कलिंग में पुनः प्रतिष्ठित करने के बहाने, मूर्त्ति की शोभा-सजाने के व्यपदेश से और अपने बल का विराट् प्रदर्शन कर मगध को त्रस्त करने के उद्देश्य से महामेघवाहन खारवेल ने अपनी सेना अग्रसर कर दिया । पाटलिपुत्र की परिखा पार कर उसके हाथी सुगांग (चक्रवर्त्ती मौर्यों के बनवाये प्रासाद) तक जा पहुँचे और घोड़े गंगा का जल पी कर अपनी हेषा से उस हीनसत्व अन्तिम मौर्य सम्राट में हृत्कम्प करने लगे, जिसका वध आसन्न था । मौर्य-चक्रवर्त्तित्व का केसरी श्रमणवादी पीत-काषाय के चन्द्रातप में कनक-चम्पा की कलाई से विवश हो अपनी उनींदी आँखों में कादम्ब के लाल डोरे कात रहा था । जिसने कभी कपिशा को लाल किया था आज वही कापिश्यानी के चषकों में ऊभ-चूम था । राजनीति स्थविरों और धर्ममहामात्रों की कुम्भदासी हो गई थी । तब वह क्यों न होता, जो हुआ ।

अन्तिम मौर्य सम्राट का प्रत्याख्यान करते सेनापति पुष्यमित्र कहते हैं—"आर्यस्थविर की यह अहिंसा एक प्रतिक्रिया है राष्ट्र में जैसे नृशंसता स्पृहणीय नहीं वैसे ही कायरता भी अभीष्ट न होगी । उत्तर-पश्चिम में यवन मिलिन्द तथा पूर्व-दक्षिण में जैन खारवेल अपने बल बढ़ा रहे हैं । किसी भी क्षण मौर्य साम्राज्य को निगल जाने के लिए ये दोनों शक्तियाँ

अग्रसर हो सकती है । महाराज, मैं प्रार्थना करता हूँ कि इन्द्रकुमारियों संघ से लौटा कर अपने कुलों में जाने की आज्ञा दी जाय जिसमें माल सेना को सन्तोष हो । (भिक्षु से) स्थविर क्षमा कीजिए तो मैं एक बा और कहूँ आपकी कृत्रिम अहिंसा ने मगध की विश्वविजयिनी वीरता इतना ह्रास कर दिया है कि उसकी संकुचित सीमा की रक्षा के लि मालव सेना अत्यन्त आवश्यक हो रही है ।" इन पंक्तियों के पीछे सा सौ वर्षों का धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक तथ्य निहित है जिसके विवे का यत्किंचित् प्रयास ऊपर की पंक्तियों द्वारा किया गया है ।

इन विचारधाराओं की दौड़ भारतीय इतिहास के महापथ पर लग चली आ रही है । राष्ट्रनीति, धर्मनीति, नृशंसता और अहिंसा सभी मीमांसा का परिपाक जैसा पुष्यमित्र की वाणी में सन् १९३५ में दिखला गया उसीसे संवाद करती १९४२ में समूचे राष्ट्र की वाणी गांधी-मुख निकली "कायरता से हिंसा भली ।" सर्वभारतीय-संस्कृति की अद्वय जिसे आज व्याकुल होकर हम ढूंढ़ रहें हैं वह भी पुष्यमीत्र के कथन चमत्कृत है । अतीत के प्रायः सभी ऐतिहासिक तत्व अधुनापि विद्यमा हैं । इस अग्निमित्र नाटक के वे उपादान-मिलिन्द खारवेल, पुष्यमित्र औ वृहद्रथ आज भी तो है । संधारामी-तत्व और धर्म के उन्माद का अध क्या आज नहीं है ? केवल अग्निमित्र ही नहीं वरन् च उनके सभी नाट को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा: वे केवल अतीत के "गड़े मुर्दे समझ कर दवा देने की वस्तु नहीं । 'वे हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शु भारती स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता' की पुकार सुन कर लिखे ग साभिप्राय हैं—सहेतुक हैं ।

आज वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य को बाह्यतः एक दूसरे बहुत समीप कर दिया है किन्तु आन्तर-सामीप्य को शून्य प्राय करता रहा है । परिणामतः अन्य के समीप होने की तो बात दूर व्यक्ति स्व अपने में बहुधा-बहुशः विखण्डित हो चला है । जिस परिमाण में देश औ

काल के क्षितिज का संकोच हो रहा हैं प्रायः उसी मात्रा से आत्म-विस्तार की भावना में कमी आती जा रही है। ऐसे परिवेज सामूहिक चेतना की ऐतिहासिक प्रक्रिया में वह घड़ी भी आई जिसने युगों के अनुभव से सीख लेकर भारत को धर्म-निरपेक्ष संविधान दिया जो संविधान एक मुखापेक्षी बनने से राष्ट्र की रक्षा और सामाजिक मूल्यों के संवर्द्धन की प्रतिज्ञा करता है। यह सही है कि एकमुखी-तन्त्रों ने समष्टि से विपुल ऐश्वर्य और बल खींच समष्टि को ही दलित, शोषित और पीड़ित करने का उसे साधन बनाया, किन्तु जब भी वास्तविक संघर्ष उपस्थित हुए उसे पराभूत ही होना पड़ा। पोरस से हुए युद्ध में सिकन्दर उतना व्यथित और व्याहत नहीं हुआ जितना कि कठों, मालवों और क्षुद्रकों से—जब कि पर्वतेश्वर (पोरस) हाथी पर थे। संयोग की बात है कि आक्रामक सिकन्दर की छाती में लगा बर्छा मालव ही रहा और पुष्यमित्र भी मालव ही है। जो एक बार पुनः भारत की पवित्र भूमि को निष्कण्टक करने के अर्थ अश्वमेध का संकल्प लिए है। सुतराम, इतिहास की सरणि में जब भी एकतन्त्र और गणों का संघर्ष हुआ है गणबल का अवसान नहीं हुआ यदि उनका पराभव हुआ तो निजी कलह अथवा अल्प-शक्तिता के कारण ही। (लिच्छवि सन्दर्भ में गण सम्बन्धी वृद्धवाक्य द्रष्टव्य) कठो, मालवों और क्षुद्रकों की शक्ति सिकन्दरी-वाहिनी के सम्मुख नगण्य थी। किन्तु युद्ध हुआ और वीरता में वे सिकन्दर से हारे नहीं अपितु उन्हीं के हाथों मिले आघात ने उसे बावेरु में पंचत्व दिया। वृजियों के गणशासन को अजातशत्रु ने रण क्षेत्र में नहीं हराया अपितु वैशाली के आपसी कलह और अमात्य वर्षकार की कूटनीति से उनका पतन हुआ। जहाँ तुल्य-बल का सामना हो गया वहाँ एकतन्त्र नहीं ठहर सका चाहे सेबास्टोपोल, क्रीमिया और कर्च हो अथवा हाजीपिर, कारगिल और बंगलादेश। किन्तु तब एक एकतन्त्री शासनों की एक आवश्यकता भी रही और उस पर अंकुश रख एकतन्त्र के महागज को सही ढंग से चलाने के लिए आचार्य चाणक्य ने कुछ नये प्रकार से आर्षप्रयोग किये। उन्होंने

अग्रसर हो सकती है । महाराज, मैं प्रार्थना करता हूँ कि इन्द्रकुमारियों संघ से लौटा कर अपने कुलों में जाने की आज्ञा दी जाय जिसमें माल सेना को सन्तोष हो । (भिक्षु से) स्थविर क्षमा कीजिए तो मैं एक ब और कहूँ आपकी कृत्रिम अहिंसा ने मगध की विश्वविजयिनी वीरता इतना ह्रास कर दिया है कि उसकी संकुचित सीमा की रक्षा के लि मालव सेना अत्यन्त आवश्यक हो रही है ।" इन पंक्तियों के पीछे स सौ वर्षों का धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक तथ्य निहित है जिसके विवेच का यत्किंचित् प्रयास ऊपर की पंक्तियों द्वारा किया गया है ।

इन विचारधाराओं की दौड़ भारतीय इतिहास के महापथ पर लगा चली आ रही है। राष्ट्रनीति, धर्मनीति, नृशंसता और अहिंसा सभी मीमांसा का परिपाक जैसा पुष्यमित्र की वाणी में सन् १९३५ में दिखला गया उसीसे संवाद करती १९४२ में समूचे राष्ट्र की वाणी गांधी-मुख निकली "कायरता से हिंसा भली ।" सर्वभारतीय-संस्कृति की अद्वय जिसे आज व्याकुल होकर हम ढूंढ़ रहें हैं वह भी पुष्यमीत्र के कथन चमत्कृत है । अतीत के प्रायः सभी ऐतिहासिक तत्व अधुनापि विद्यमा हैं । इस अग्निमित्र नाटक के वे उपादान-मिलिन्द खारवेल, पुष्यमित्र औ वृहद्रथ आज भी तो है । संघारामी-तत्व और धर्म के उन्माद का अध क्या आज नहीं है ? केवल अग्निमित्र ही नहीं वरन् च उनके सभी नाटक को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा: वे केवल अतीत के "गड़े मुर्दे समझ कर दवा देने की वस्तु नहीं । 'वे हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शु भारती स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता' की पुकार सुन कर लिखे ग साभिप्राय हैं—सहेतुक हैं ।

आज वैज्ञानिक उपलब्धियों ने मनुष्य को बाह्यतः एक दूसरे वहुत समीप कर दिया है किन्तु आन्तर-सामीप्य को शून्य प्राय करता ज रहा है । परिणामतः अन्य के समीप होने की तो बात दूर व्यक्ति स्व अपने में बहुधा-वहुशः विखण्डित हो चला है । जिस परिमाण में देश औ

काल के क्षितिज का संकोच हो रहा हैं प्रायः उसी मात्रा से आत्म-विस्तार की भावना में कमी आती जा रही है। ऐसे परिवेज सामूहिक चेतना की ऐतिहासिक प्रक्रिया में वह घड़ी भी आई जिसने युगों के अनुभव से सीख लेकर भारत को धर्म-निरपेक्ष संविधान दिया जो संविधान एक मुखापेक्षी बनने से राष्ट्र की रक्षा और सामाजिक मूल्यों के संवर्द्धन की प्रतिज्ञा करता है। यह सही है कि एकमुखी-तन्त्रों ने समष्टि से विपुल ऐश्वर्य और बल खींच समष्टि को ही दलित, शोषित और पीड़ित करने का उसे साधन बनाया, किन्तु जब भी वास्तविक संघर्ष उपस्थित हुए उसे पराभूत ही होना पड़ा। पोरस से हुए युद्ध में सिकन्दर उतना व्यथित और व्याहत नहीं हुआ जितना कि कठों, मालवों और क्षुद्रकों से—जब कि पर्वतेश्वर (पोरस) हाथी पर थे। संयोग की बात है कि आक्रामक सिकन्दर की छाती में लगा बर्छा मालव ही रहा और पुष्यमित्र भी मालव ही है। जो एक बार पुनः भारत की पवित्र भूमि को निष्कण्टक करने के अर्थ अश्वमेध का संकल्प लिए है। सुतराम, इतिहास की सरणि में जब भी एकतन्त्र और गणों का संघर्ष हुआ है गणबल का अवसान नहीं हुआ यदि उनका पराभव हुआ तो निजी कलह अथवा अल्प-शक्तिता के कारण ही। (लिच्छवि सन्दर्भ में गण सम्बन्धी बुद्धवाक्य द्रष्टव्य) कठो, मालवों और क्षुद्रकों की शक्ति सिकन्दरी-वाहिनी के सम्मुख नगण्य थी। किन्तु युद्ध हुआ और वीरता में वे सिकन्दर से हारे नहीं अपितु उन्हीं के हाथों मिले आघात ने उसे बावेरु में पंचत्व दिया। वृजियों के गणशासन को अजातशत्रु ने रण क्षेत्र में नहीं हराया अपितु वैशाली के आपसी कलह और अमात्य वर्षकार की कूटनीति से उनका पतन हुआ। जहाँ तुल्य-बल का सामना हो गया वहाँ एकतन्त्र नहीं ठहर सका चाहे सेबास्टोपोल, क्रीमिया और कर्च हो अथवा हाजीपिर, कारगिल और बंगलादेश। किन्तु तब एक एकतन्त्री शासनों की एक आवश्यकता भी रही और उस पर अंकुश रख एकतन्त्र के महागज को सही ढंग से चलाने के लिए आचार्य चाणक्य ने कुछ नये प्रकार से आर्षप्रयोग किपे। उन्होंने

कुमा के तट पर एक अग्निरेखा खींच दी जो बहुत दिनों तक आक्राम
के लिए दुलंघंय बनी रही। धर्म की गतिमयी परिभाषा कर उसे युगा
कूल और हितानुसारी बना सेल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का विवाह क
दो चार पीढ़ियों तक भारत को युद्धों से दूर रह पुष्ट होने का अवस
दिया। उनके बाद आने वाली तीन शतियाँ भारत के लिए उत्कर्ष औ
समृद्धि की बीतीं : और जब इतिहास ने पुनः अपने को दुहराने की चेष
की, प्रतीत होता है कि तब पुनः चाणक्य और उनके द्वारा गढ़ी रा
प्रतिमा चन्द्रगुप्त, अपनी ही अभिव्यक्ति करती एक नये परिपार्श्व में मा
पतंजलि और पुष्यमित्र के रूप में अभिव्यक्त हुयी।

परिस्थितियाँ और घटनाक्रम चाहे भिन्न रहे हों किन्तु उनके मूल
ही थे। इरावती के प्रश्न करने पर पतंजलि कहते हैं—"सहस्रो वर्ष
दार्शनिकता ने अपना अतिवादी स्वरूप प्रगट कर दिया है आज हम लो
दर्शन से जीवन का, सृष्टि का सामंजस्य करना भूल कर बौद्धिक
में पड़े हैं। हममें सब कर्मों को भस्म करने वाली अग्निज्वाला आत्मा
आहुति समझ कर सबको ग्रहण करने वाली शक्ति का ह्रास हो रहा है
महाशक्ति की सृष्टि महायज्ञ है। इसकी आहुतियाँ बन्द कर दी गई है
मन, वाणी, शरीर से इसीलिए आर्य लोग अपवित्र हो गये हैं। आत्मकेन्
के अभाव में कर्मों की प्रतिष्ठा नहीं हो रही है। इसलिए अब फिर
यज्ञ प्रारम्भ हो रहा है।"

अश्वमेध, वस्तुतः लोकात्मक संकल्प के प्रतीक होते थे साथ
बलाबल के आंकिक तथ्य भी प्रस्तुत करते थे और राजसूय वैसे संकल्पों
सिद्धि की घोषणा करता था और चुनौती दे उस सिद्धि को प्रमाणि
करता था। इन्हें धर्म-निरपेक्ष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी : तभी
जैन खारवेल ने भी राजसूय किया। उत्तर में जब पुष्यमित्र अश्वमेध
रहे थे उसी समय दक्षिण में सातकर्णि ने भी अपना श्यामकर्ण छोड़ा
विदेशी-संकट को आसन्न देख एक संगठित शक्ति प्रस्तुत करने के लि

आर्य समुद्रगुप्त ने भी अश्वमेध किया। भारशिवों ने तो एक नहीं दश अश्वमेध (काशी में) किए, जिन अश्वमेधों की स्मृति दिलाने वाला काशी का दशाश्वमेध आज भी पवित्रतम घाट माना जाता है (दशाश्वमेधावभृथस्नानानाम् भारशिवानाम्—प्रवरसेन द्वितीय का ताम्रलेख)। एवं विध पुष्यमित्र का यह अश्वमेध भी उसकाल के भौतिक, प्राणिक और मानसिक उपप्लव के शमनार्थ लिए गए राष्ट्रीय-संकल्प का प्रतीक बना। उसमें सर्वभारतीय श्रद्धा के परिवेश में प्रस्तुत एक समष्टिगत आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए मन्त्र-स्वामी पतंजलि और द्रव्य-स्वामी पुष्यमित्र नियत हुए : और श्रद्धा, मन्त्र और द्रव्य से पुष्ट अंगों वाला यज्ञपुरुष भारतीय महाजाति के सामूहिक उद्धार के लिए उठ खड़ा हुआ: पुष्यमित्र अश्वमेधयाजी हुये (कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य···· अयोध्या अभिलेख)।

शेष के अवतार कहे गये पतंजलि कह चुके हैं (अगिनमित्र में) मन, वाणी, शरीर से इसीलिए आर्यलोग अपवित्र हो गए हैं। वस्तुतः देखा जाता है कि इस त्रिविध शोधन के अर्थ उन्होंने अपना त्रिविक्रम दिखाया। वाणी परिशुद्धि के अर्थ शब्दानुशासन को नियमित करने के लिए महाभाष्य प्रस्तुत किया, प्राणों को संयमित कर मन को स्वस्थ गति देने के लिए योग के सूत्र दिए और देहानुशासन के लिए आयुर्वेद का भी प्रतिसंस्कार किया। कहा गया है—

पातंजलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः।

नियमतः अभिषिक्त हुए बिना पुष्यमित्र ने अपने को राजा घोषित करना युक्त नहीं माना वैसा होने से शुंग लोग भी "नैवमूर्द्धाभिषिक्तास्तै" कह कर पुराणों द्वारा कदर्थित होते। अश्वमेधों के बाद भी यवन और जैन खारवैल की समस्याओं ने उन्हें कदाचित् अभिषेक या राजसूय का अवसर नहीं दिया। यह भी संभव है कि सिंहासन पर स्वयं न जा अपने

पुत्र अग्निमित्र को ही बैठाने की इच्छा रही हो। उस समय एक ऐसे पूर्ण सक्षम और उत्तरदायी व्यक्ति की नितान्त आवश्यकता थी जो सिंहासन—छत्र से पृथक् रह राष्ट्रनीति का संचालन करता, और पुष्यमित्र ने वही किया। अयोध्या के उक्त शिलालेख (धनदेव) और मालविकाग्निमित्र दोनों ही परवर्ती 'उल्लेखों में पुष्यमित्र को सेनानी बताया गया है, राजा नहीं'। ऐसे केन्द्रपरक व्यक्तित्व राष्ट्र के लिये सदैव आवश्यक होते हैं।

प्रजा के संस्कारों में घुली-मिली और सात्मभूत शासन सम्बन्धिनी भावनाओं को ठेस न पहुँचे, नये शासक इसका सदैव ध्यान रखते आये हैं। इस सन्दर्भ में अकारण कोई बात आरोपित करने में कोई हित नहीं। भावादर्श-गत यथास्थिति वनाये रखने में उनके यथार्थगत स्वार्थ अव्याहत रहते हैं और प्रजा भी शनैः शनैः वशवर्त्तिनी हो जाती है : और, प्रशासकीय कीले सही स्थानों पर दृढ़ हो जाती हैं। इस मान्यता का प्रवाह इतिहास में जारी रहा है। उदाहरण में देखा जा सकता है कि नहपान-रुद्रदामा आदि विपुल शक्तिसम्पन्न शकों ने अपने को क्षत्रप या महाक्षत्रप ही कहा, प्रचण्ड हूण तोरमाण और मिहिरकुल ने अपनी उपाधि जउब्ल ही रखी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रशासन कुछ भी आवश्यकता विद्यमान रहने तक 'सल्तनते मुगलिया' के ही छाप के सिक्के ढालती और ढलवाती रही और यदि अन्तिम दिल्लीश्वर और लखनऊ की बेगमों ने अपने को विद्रोह से दूर रखा होता तो उन सिंहासनों पर उनके वंशधरों की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित किये अंग्रेज बहुत दिनों तक शासन करते। सुतराम् इन ऐतिहासिक तथ्यों के सार्वकालिक सिद्धान्त-मूल को ध्यान में रखते पुष्यमित्र का सेनानी मात्र वना रहना कुछ अस्वाभाविक नहीं। सेना से, जिसके बल वह अधिकृत हुआ, निकट रहने के अर्थ उसके लिए सेनानी पद सिंहासन से अधिक स्पृहणीय था। यवनों और खारवेल की महत्वाकांक्षाओं के देखते मगध के लिए सेना का मूल्य बहुत बढ़ गया था और समूची मालव-मागध सेना का पुष्यमित्र ने ऐसा गठन, संचार और संव्यूहन किया

कि दिमित्र-खारवेल दो में से किसी का स्वप्न साकार न हो सका। इतिहास के इस सन्दर्भ में शुंग-प्रशासन ने औदात्य, विनय, धैर्य और शौर्य का अनूठा परिचय दिया है।

प्रतिपुरुष क्षीण होती मौर्य-सत्ता के अस्तकाल में राजनीति के अतिरिक्त विचारसंकट भी प्रभूत थे। ऐसी दशा में चाणक्य से अधिक दायित्व उसकी प्रतिच्छवि पतंजलि पर आ पड़ा। अतः स्थितिपरक और चित्रगत दोनों प्रकार की सम्भावनायें "अग्निमित्र" में विशद रहीं, : "चन्द्रगुप्त" की तुलना में। किन्तु न तो अग्निमित्र नाटक ही पूरा लिखा जा सका न उसका अगला रूपान्तर इरावती उपन्यास ही। यह क्या कम विषाद की वात है कि "प्रसाद चेतना" जब अपने चिन्तन का "ध्रुवतारा" पाकर उसका प्रकाश व्यवहार-जगत तक लाने को उद्यत हुई तब महाप्रकाश की डोर ने उसे खींच लिया।

अशोकोत्तर काल में भिक्षुसंघों के कुक्कुटाराम-संघाराम राजनीतिक कूटकर्मों के केन्द्र और लोक-चेतना के लिए मानसिक व्याधि के रूप में बन गए थे। धर्म के नाम पर गुह्य-साधन-चक्रों में आध्यात्मिक सहजोपलब्धि के बहाने विलास के उत्सव आयोजित होने लगे थे। शेष के आधार पर स्थापित समग्र मेदिनी के पात्र में भरे सातों समुद्र को मद्य के रूप में ग्रहण कर आठो दिग्पालों को आमिष बनानेवाली भाव-साधना—परम्परा की हास्यास्पद अनुकृति में तब वहाँ स्फटिक और काँचन-पात्रों में सीधु और मैरेय उफनाने लगे थे। नारी नर की दासी मात्र थी। अब वह समान-स्तर पर जाकर पणियों से सन्धि-विग्रह की विधायिका सरमा नहीं थी न तो मंत्रद्रष्ट्री श्रद्धा ही रही। सामान्य पुरुषसमाज से पृथक् एक असामान्य युवायोगियों की भिक्षुजाति बन चुकी थी, जिसमें वासना की अतृप्ति स्वाभाविक रही। नारी ललित-मन्दिरों के रत्न-गर्भ में देवार्पित हुई और देव—सेवा के व्याज से दानव-सेवा की उपस्कृति बना ली गई। साधक और उपासक नारी के सौन्दर्य और यौवन से उद्वेलित काया

को पाषाण-प्रतिमा को अर्पित कर पाषाणी बनाते—भोगप्रसाद पाते अपनी भुक्ति को मुक्तिदूती बनाने का छल-कौशल करते थे।

यद्यपि आर्यों के प्रत्येक अनुष्ठान आनन्द में पर्यवसित होते थे तथापि उनमें प्रच्छन्न ऐन्द्रिक-भोग की कल्पना भी नहीं थी। बाहर से कृत्रिम स्वच्छता की मार्जनी लिए वे भीतर कलुष एकत्र नही करते थे। अपितु ठीक इसके विपरीत उनकी मान्यताएँ रहीं। उदाहरण में जबाला और मत्स्यगन्धा के प्रकरण लिए जा सकते हैं। विदेशी आक्रमणों-संक्रमणों ने भारतीय संस्कृति की मूल-भित्ति नारी की सहज-चर्या और ऋजु स्वातन्त्रय को निरन्तर आहत किया एवं उनका प्रतिकूल प्रभाव अधुनापि साक्षात् हैं। एक वाक्य में वह स्वयंवरा से पण्या हो गई और अग्निमित्र में उस स्वयंवरा की पण्या-बिन्दु तक की यात्रा की कथा का एक मोड़ है।

कभी तथागत ने स्त्रियों की प्रव्रज्या को सदोष बताया था किन्तु पारिवारिक अनुरोध की वे उपेक्षा न कर सके और महाप्रजापती गौतमी की उपसम्पदा ने भिक्षुणी-संघ का मार्ग खोल दिया। तथागत-वाक्य से ही यह घटना उनके मार्ग की विपदा बनी और उनके अनुसार सहस्त्र वर्ष पर्यन्त निर्बाध रहने वाला भिक्षु-संघ अपनी ही जन्मभूमि भारत में आधा जीवन जीकर मृतप्राय हो गया और जो कुछ शेष बचा वह अपनी भाव-संकरता में तथागत के अनुशासन का विद्रूप उपहास करने लगा। कामिनियों की प्रव्रज्या बुद्धादिष्ट हो चुकी थी, अतः उसकी समाप्ति का अब प्रश्न ही कहाँ? श्रमणों की प्यासी आँखें श्रामणेरियों की नीली संघाटी पर एक सहज ठहराव पा चुकी थीं अब कौन शास्ता उस सुख से उन्हें वंचित कर सकता था। निकायों की सृष्टि और संघ के विखण्डन होने लगे। वृत्ति, संस्कार और दृष्टि के आधार पर केन्द्रीकरण होने लगे। अब कुक्कुटाराम की प्राचीर भेद कर मृगारमाता के दानशीलता की जयकार चाहे न आती हो पर अंबपालियों की टीस मारती तानें अवश्य निकलने लगी थीं। तृष्णामयी करुणा की शरण जा शील-ग्रहण के चक्कर में

कितनों ने शील खोये और कितने रत्न पाहन हुए उन्हीं में से एक की छोटी कथा अग्निमित्र और इरावती में आई है। ऐसे सन्दर्भ में अग्निमित्र-इरावती का भाव-सन्दर्भ देते पूज्य पिताजी ने कहा है—"मानवता ने अपने युगों के जीवन में सृष्टि का विनाश किया है और विनाश से सृष्टि की है। चित्र वनता बनता बिगड़ जाता है। जैसे प्रत्येक रेखाएँ नपीतुली होने पर भी कृत्रिमता से असंगत हो जाती हैं। फिर से चित्र बनाने के लिए चित्रकार कूँचियों को दूसरे पट पर पोंछने लगता है और तव ! हाँ, सचमुच वह फूल-सा बन जाता है। अति सुन्दर बनाने के लोभ में प्रायः वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है फिर तो उससे नाता तोड़ लेना आवश्यक हो जाता है। हमारी अहिंसा अब हमारी हिंसा करने लगी है। हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा है और देखों धर्म पाप बनता जा रहा है।" पतंजलि और पुष्यमित्र में केन्द्रीभूत भारत की सामूहिक चेतना का दुर्दम विद्रोह इन पंक्तियों में विन्दुगत है जिसका प्रस्तार अग्निमित्र-इरावती में हुआ है।

समाज की गति के मनन-मंथन से निकले नवतीत (सारभाग एवं नये निकाले गए) भावों ने प्रसाद-साहित्य में वहुधा चरित्र-रूप पाया है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, चाणक्य, पतंजलि, शिखरस्वामी, मालविका. अनन्त देवी, कालिन्दी, श्यामा, ध्रुवदेवी, देवसेना अथवा घंटी सभी समाज-गति के भावपुंज हैं सभी के पीछे उत्थान-पतन की एक भावमयी परम्परा है। सभी व्यक्ति-संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति हैं और सभी अपने अभिनय-कल्प में एक सोद्देश्य-सन्देश का यथार्थ लिए सार्थक हैं।

उनकी दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ नहीं अपितु समष्टि-परक रही जिस समष्टि की मंगलवेदी पर व्यक्तिपरक स्वार्थों सुखों, और जीवन तक के वलिदान सहसा, सर्वथा और निस्संकोच हो जाते हैं चाहे स्कन्द-देवसेना के हों अथवा चाणक्य-सुवासिनी के। मालविका यदि एक उद्देश्य लिये मरती है तो शकटार एक लक्ष्य के लिए अपने सात पुत्रों की हड्डियों से सुरंग खोद

कर भूगर्भ से निकलता है। उन सभी का ध्रुवतारा (मार्गदर्शक) लोक-मंगल रहता है। वे सभी सामूहिक चेतना की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ है। आदर्श-यथार्थ, के समरस-अनुकार हैं। वास्तव में व्यक्ति शब्द स्वतः किसी अव्यक्त सत्ता, समष्टिगत चैतन्य अथवा अन्य शब्दों में कामायनी के आमुख में कथित सामूहिक चेतना की अंशमयी अभिव्यक्तियाँ होने से ही—व्यक्ति-पदवाच्य हैं। व्यक्ति मूलतः क्रिया है जो व्यवहार रूढ़ि में संज्ञारूप लेती है। व्यक्ति शब्द सम्मुख आते ही प्रश्न होता है—किसकी ? और उत्तर में कामायनी कहती है—

चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत, अपना निर्मित आकार खड़ा है।

अन्यत्र एक स्थान पर चरित्र और पात्र के सम्बन्ध में अपने विचार अंकित करते हुए पूज्य पिताजी ने कहा है—"शेक्सपीयर के पात्र बलवती वासनाओं के मानव रूप हैं, सो भी अतिचित्रण है। कालिदास के पात्र मनुष्य हैं उनकी वासनाओं का उन्हीं में अवसान हैं—जो चरित्र मानव समाज की गति के समीप होगा वही शिक्षा देगा शकुन्तला और दुष्यन्त सा पतन और उत्थान सामाजिकता का आधारस्तम्भ है" श्री द्विजेन्द्रलाल राय की पुस्तक कालिदास और भवभूति के पृष्ठ संख्या २२ और ८३ पर यह उनकी हस्तलिपि में हमें प्राप्त है।* ध्यातव्य है कि उनके ये विचारांक १९२१ ई०के हैं जब कि यहाँ मनोवैज्ञानिक मीमांसा और समीक्षाशास्त्र को अपना वर्णपरिचय भी नहीं मिला था, कालिदास और भवभूति में(अनुवाद-हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर सिरीज ग्रन्थ संख्या ४६ मई १९२१ बम्बई, पृ० सं० २२) शेक्सपीयर के चरित्रों के उल्लेखपूर्वक श्री द्विजेन्द्रलाल राय कहते हैं "शेक्सपीयर ने इतने उच्च चरित्रों का निर्माण किया है कि उन चरित्रों ने उनके नायकों के चारों ओर एक ज्योति फैलाकर नाटकों को उज्ज्वल बना दिया है।" किन्तु ठीक इसके पूर्व श्रीराय यह भी कहते हैं कि "उनके सर्वोत्कृष्ट नाटकों के विषय तो अवश्य महत् हैं लेकिन उनके नायकों में

कोई विशेष गुण नहीं पाया जाता" जिसकी पुष्टि में हैम्लेट में संशयात्मकता, मेकवेथ में कृतघ्नता, एन्टोनी में कामुकता, सीजर में दम्भ का उल्लेख करते हैं किन्तु शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में इन सब चरित्र दुर्वलताओं या पाप प्रवृत्तियों का भयानक परिणाम दिखाया है। कारण वताते हैं शेक्सपीयर का पार्थिव क्षमता के प्रति झुकाव होना—निरीहता परदु:ख कातरता का उनकी दृष्टि में महत्व नहीं। पार्थिव ऐश्वर्य का प्रदर्शन श्रीराय के मत से शेक्सपीयर के सम्मुख चरित्र-माहात्म्य से महत्वपूर्ण है। कालिदास एवं भवभूति को एक ही तुला पर तौल कर उन्होंने "सरसरी तौर" पर कहा—

"दोनों कवियों ने इस प्रकार अपने अपने नाटक के नायक को सर्वगुण सम्पन्न वनाने की चेष्टा की है, किन्तु उन्हें उसमें सम्पूर्ण रूप से सफलता नहीं हुई। उनके नाटकों में जगह-जगह पर नायक के प्रति उनका उभड़ा हुआ क्रोध गैरिक स्राव (गेरु के झरने) की तरह, उनके हृदय को विदीर्ण करके वाहर निकल पड़ा है, और सताई गई नायिकाओं के प्रति करुणा और अनुकम्पा का भाव अपने उच्छ्वास को प्रकट कर रहा है। अभिज्ञान शाकुंतल नाटक के पंचम अंक में हम देखते हैं कि राजसभा में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान होने के पहले भी जिस समय क्रोध उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था, गौतमी कहती है—

णावेक्खिदो गुरुअणो इमाए तुएवि ण पुच्छिदोबन्धु।
चरिए किं भणदु एक्क एक्कसर्सि ॥

अर्थात् इन्हों (शकुन्तला) ने गुरुजनों की अपेक्षा नहीं की, और आप (दुष्यन्त) ने भी वन्धु-वान्धवों से कोई वात नहीं पूछी। अतएव इस (आपके और शकुन्तला के) आचरण के बारे में महर्षि कण्व क्या कहेंगे! (जो कुछ हो गया, उसे समुचित ही समझलेंगे)।

यह ज्वालामय व्यंग्योक्ति है। राजा के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान होने के वाद शार्ङ्गरव कहते हैं—

"मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु ।"

(ऐश्वर्य-मत्त लोगों में प्रायः ऐसे ही मनोविकार उत्पन्न होते दिखायी पड़ते हैं ।)

इसके वाद फिर शार्ङ्गरव की उक्ति है—

कृताभिमर्षामनुमन्यमानः सुतां त्वयानाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थ पात्रीकृतो दस्युरिवासियेन ।।

(जैसे कोई आदमी चोर को दण्ड न देकर चुराया गया अपना धन ही उसे अर्पण कर दे, वैसे ही महर्षि कण्व ने, यह जानकर भी कि तुमने उनकी अनुमति ग्रहण किये बिना ही उनकी कन्या का कौमार-व्रत नष्ट किया है, तुम्हारे उस कर्म का अनुमोदन किया । उन्हीं मुनिका इस तरह अपमान करना तुम्हें उचित ही है ।)

इसके वाद जब राजा ने शकुन्तला को ग्रहण नहीं किया और वह आँचल से मुँह ढककर रोने लगीं, तब शार्ङ्गरव उसकी भर्त्सना करते हैं—

इत्थमात्मकृतंप्रतिहतं चापल्यं दहति ।

(अप्रतिहत चंचलता इसी तरह जलाती है ।)

अर्थात् यह तुम्हारी चंचलता का फल है । बिना जानेबुझे गुप्तरूप से प्रणय करने का फल अब भोग करो ।

दुष्यन्त ने इस पर आपत्ति की, तब शार्ङ्गरव ने कहा—

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
पराभिसन्धांनमधीयते यैर्विद्येतिते सन्तु किलाप्तवाचः ।।

(जिसने जन्म से लेकर अब तक धूर्तता नहीं सीखी, उस आदमी की बात मानने योग्य नहीं है, और जो विद्या की तरह दूसरों को ठगने का पाठ पढ़ते हैं वे सत्यवादी समझे जायँ ।)

यह भी एक विकट व्यंग है कि "जो लोग अन्य विद्याओं की तरह पर प्रतारणा का अभ्यास करते हैं, उनकी बात बेशक विश्वास के योग्य है। सबके अन्त में जिस तरह गौतमी और दोनों शिष्य शकुन्तला को छोड़कर चले गये, उससे एक उत्कट रोष प्रकट होता है वह रोष कामुक राजा और कामुकी शकुन्तला दोनों के प्रति है। ऋषि-शिष्य और ऋषि-कन्या के मुख और आचरण में यह तीव्रता देखकर जान पड़ता है कि कालिदास का मनोगत भाव भी वही है।"

पूज्यपिताजी की यह टिप्पणी—"शेक्सपीयर के पात्र बलवती वासनाओं के मानव रूप हैं सो भी अतिचित्रण है। कालिदास के पात्र मनुष्य है उनकी वासनाओं का उन्हीं में अवसान है।" इस प्रसंग में प्राप्त है। दूसरी टिप्पणी—"जो चरित्र मानव समाज को गति के समीप होगा वही शिक्षा देगा—शकुन्तला और दुष्यन्त सा पतन और उत्थान सामाजिकता का आधार स्तम्भ है।" श्रीराय द्वारा किये गये शकुन्तला के इस चरित्र विश्लेषण पर है," शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में लालन-पालन होने पर भी उसकी मति चपल है। उसके लज्जा नहीं है, संयम नहीं है, धैर्य नहीं है। उसका नाम सीता, सावित्री, दमयन्ती और शैव्या के साथ नहीं लिया जा सकता तो फिर किस गुण के कारण वह इस जगत्प्रसिद्ध नाटक की नायिका हुई?"

"जिस कारण से दुष्यन्त इस नाटक के नायक हुये हैं, उसी कारण से उन्हीं के अनुरूप गुणों से, शकुन्तला भी इस नाटक की नायिका हुई है। शकुन्तला चरित्र का माहात्म्य (दुष्यन्त ही की तरह) पतन और उत्थान में है।"

"प्रथम तीन अंकों में शकुन्तला का पतन है। दुष्यन्त के प्रेम में पड़कर उसने अपने साथ, और अपनी दोनों सखियों के साथ चातुरी शुरू कर दी, जो कि तापसी के योग्य मनोभाव नहीं कहा जा सकता। बाद को उसने

दुष्यन्त के साथ जैसे निर्लज्ज भाव से एकान्त में बातचीत की, वह तापसी कौन कहे, किसी भी कुमारी के लिये लज्जा का कारण है। यदि शकुन्तला मिरांडा की तरह सरल और (संसार से अनभिज्ञ होती, तो भी हम कहते कि ठीक है। किन्तु वह विवाह के योग्य अन्य संसारी कुमारियों की तरह व्यंग बोलती और अभिनय करती है। उसने परोक्ष में भावी सौतों के प्रति कटाक्ष करना भी नहीं छोड़ा। सबके अन्त में प्रतिपालक पितृतुल्य स्नेहमय महर्षि कण्व की अनुमति की अपेक्षा न करके दुष्यन्त को आप ही आत्मसमर्पण कर दिया, जिसे कि उसके अधःपतन की चरम सीमा कह सकते हैं।"

उन टिप्पणियों के अतिरिक्त भी अन्य टिप्पणियाँ हैं जिनका विस्तार-भय से उल्लेख नहीं किया गया और उनकी मीमांसा एक अन्य विषय है। नाटक के चरित्र और मानव समाज के प्रति इन टिप्पणियों द्वारा प्रसाद भारती का दृष्टिकोण स्पष्ट हो रहा है: सुतराम अध्येताओं के काम की वस्तु है। इन टिप्पणियों की लिपि-छाया आगे दी गई है।

इतिहास के पृष्ठों पर मानव समाज के शुष्क-शोषित और क्षीण एवं पुष्ट-पोषित और पीन वर्गों के परस्पर अव्याहत संघर्ष की अन्तश्चेतना में जो एक अभंग भावधारा प्रवाहित है उसके उद्गम को सभ्यता के वर्ण परिचय का पूर्ववर्ती कहना चाहिये। आनन्द के मौलिक भाव के प्रति अभिजात उन्मुखता इस भावधारा में स्वाधीनता की वृत्ति बनकर गति रूपेण प्रतिष्ठित रहती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव समाज बहुस्तरीय होता जाता है, फलतः उन स्तरों में अनुरूप-संघर्ष के आयाम स्पष्ट होते हैं जिनमें स्वाधीनता वृत्ति अनुस्यूत रहती है : जिसकी पृष्ठभूमि आनन्द के प्रति उमुखता ही रहती है। अपने पूर्णत्व के पराकाष्ठा में सभ्यता स्व के अधीन अनन्य-परतन्त्रा होना चाहती है यह कथा, साहित्य के माध्यम से मुखर हो वाङ्मय की ऊर्जा बनती है। पशु समाज और प्राकृतिक दशाओं के प्रतिकरण में मानव समाज जैसे-जैसे सक्षम होता

गया : वह संघर्ष अनेक-मूर्ति-प्रत्यक्ष होता गया। इतिहास के पृष्ठों में वस्तुत : इसका (संघर्ष का) कथा पक्ष है। किन्तु पुष्ट-ऋद्धों ने इतिहास को डिण्डिमनाद का साधन बना लिया : फिर इतिहास, राजाओं की सम्पत्ति बन गया और प्रजा के लिये उसकी सार्थकता राजाओं के मरने-जीने का लेखा-जोखा रखने और उनके स्तुतिगान में सीमित हो गयी। किसी व्यापक अकाल, जिसमें लाखों-लाखों लोग प्राण खो बैठे के हेतु अथवा जनजीवन को प्रभावित करनेवाली ऐसी अन्य घटनाओं से मानो इतिहास का कोई तात्पर्य ही नहीं। प्रजा केवल ऋद्धों में मात्स्यन्यायी पारस्परिक संघर्ष में साधनभूत हो आरोपित प्रभु के जयकार में कृतकृत्य रहने लगी। समाज की नियामिका वृत्तियों पर ऋद्धों का एकाधिकार हो गया फिर तो मानव समाज की भौतिक प्रगति और उसके विकास की प्रत्येक विधा में बलवत्तरों की वाणी का मुखर रहना सहज रहा। किन्तु यह महासमष्टि, नीलकण्ठ का पाँचभौतिक विस्तार है : जो विषपायी है तो ताण्डवकारी भी : ताण्डव एक व्यापक परिवर्तन की अन्तवर्ती क्रिया का प्रतीक है : सूक्ष्म से स्थूल पर्यन्त दशाओं में विद्यमान रूढ़-परिवेश पर पटाक्षेप एवं नये दृश्य के रंगावतार का सूत्रधार ही नटेश रूपतः ख्यात है। नयी संस्कृति के भावावेदन के विलक्षणता की व्याकृति के अर्थ 'नृत्यावसान' में डमरू[1] से सूत्रों का आविष्करण लाक्षणिक है। जिन्हें नीलकण्ठ अपनी अकण्ठता से नहीं कह पाया उसकी सम्प्रेषणीयता अर्द्धनारीश्वर प्रतीक डमरू से सम्पन्न हुई : तब केवल ताण्डव-कारी ही था गौरी—लास्य से प्रमोद की अनुभूति के प्रतिवेदन डमरू द्वारा व्याख्यात हुए विश्वरंग में ऐसी क्रान्ति के अनन्तर वाङ्मय-सम्पन्न नये समाज की यह आदि

१. डमरू में ऊर्द्धवमुखत्रिकोण अर्थात् शिव त्रिकोण एवं अधोमुख त्रिकोण अर्थात् शक्ति त्रिकोण की मिलित अवस्था एक आकार लेती है : यदि यह सूत्र है तो अर्द्धनारीश्वर की कल्पना उसका भाष्य।

पीठिका कही जाने योग्य है : जो नर और नारी की सन्तुलित समष्टि अर्थात् अर्द्धनारीश्वर की अवस्था में प्रतिवेदनीय और व्याख्यात हुई।

समाज के मानसिक वैचारिक परिवेश का यथार्थ और उस यथार्थ का नीरक्षीर-विवेक साहित्यकार के सम्मुख होना चाहिए; अन्यथा आदर्श और यथार्थ का समन्वयन और समाज की परस्पर विरुद्ध विचारधाराओं में सामंजस्य सम्भव नहीं। यथार्थ-कथन का उद्देश्य क्या ? और आदर्श बताने की आवश्यकता ही क्या ? इसीलिए तो कि हम आदर्श को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। इसी अर्थ आदर्श के निकष पर यथार्थ को परखा जाता है। समाज में सबको समान सुख-सुविधा मिले इस हेतु शोषणहीन समाज के आदर्श में परिणत करने के लिए ही तो शोषण, उत्पीड़न और अतिचार का उल्लिखन (उत्क्रन्तभावेन लेखन) होता है, न कि उन्हें चालू रखने के लिए। यथार्थगत दुःख, दारिद्रय, अतृप्ति और अतिचार अपना डिण्डिमनाद करते ही आ रहे हैं उस नाद का केवल ध्वनन और बहुलीकरण ही करते जाना उसे मीमांसित न करना तो प्रकारान्तर से अनिच्छित यथार्थ को प्रोत्साहित ही करना है और कदाचित यह क्रम सामाजिक नहीं। साहित्य को मात्र यथार्थवाद का जामा पहचनाना उसे इतिवृत्ति की कारा में डालना है और मात्र आदर्शवाद की निर्दोष स्फटिक-मूर्त्ति गढ़ना उसे शास्त्र-मन्दिर की वस्तु बना देना है। साहित्य की अपनी पृथक् सत्ता है : समाज के अनुकूलन का उसपर दायित्व है और शास्त्र एवं इतिहास के भविष्य को ढालने की भी उसमें सामर्थ्य है। ऐसे प्रकाण्ड दायित्व को वहन करने से ही उसका कर्मी परिभू-स्वयम्भू पदभागी हुआ है। इस यथार्थ और आदर्श के संवलन ने ही भवभूति के राम को जो रूप दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है कारण वे कहते हैं—

> रे हस्तदक्षिण मृतस्यशिशोर्द्विजस्य जीवातवेविसृज शूद्रमुनैः कृपाणम।
> रामस्यगात्रमसि दुर्वहगर्भखिन्ना सीताविवासनपटो करुणाकुतस्ते।

तत्कालीन समाज का पूरा चित्र इस पद्य में निखर उठा है। रूढ़िगत आदर्श और उसके प्रति मंगळमय विद्रोह के स्तर सहित अन्तरात्मा की पुकार का यथार्थ मी है। चाहे भवभूति में बौद्ध होने का आरोप भले ही किया जाय किन्तु यह भी सोचना होगा कि पुरुषोत्तम एक पुरुष भी थे जो वाल्मीकि से तुलसीदास पर्यन्त सीता के लिए विलाप करते आ रहे हैं। सुतराम साहित्य न तो धर्मशास्त्र है न इतिहास ही। ऐसे प्रसंग पर अपनी दृष्टि देते हुए पूज्य पिताजी ने कहा है, "दु:खदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण ही साहित्य है, इसोलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्यपद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।" (यथार्थपाद और छायावाद)। सुतराम् अग्निमित्र में समाज के मानसिक परिवेश का यथार्थ : इतिहास में संवादित वस्तु स्थिति उनके सम्मुख बहुत पहले से रही और उस पर हुआ चिन्तन अपने प्रारम्भिक रूप में विशाख नाटक में ही सिलता। (१९२१) जहाँ विपरीत प्रसंग लेकर भी भिक्षु कहता है—"धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है, पुण्य क्या पाप में परिवर्तित होता है (२–५)। पिशाख स्वयं कहता है—"वे यह नहीं जानते कि दूसरों का गला काटकर कोई धर्मशाला, मठ या मन्दिर वना देने से ही उनका पाप नहीं धुल जाता।" (१–१) आगे चल कर तो और भी स्पष्टतः विशाख कहता है—"राजन् पृण्य को पाप न होने देना आप ही से प्रबल प्रतापी नरेशों का कर्त्तव्य है" (१–३)। यहाँ भी साधु प्रेमानन्द के चरित्र में 'अग्निमित्र' के पतंजलि, विशाख के चरित्र में पुष्यमित्र और चन्द्रलेखा में इरावती की भावना वोल रही है। वहाँ नागों की भूमि एतद्देशीय राजाओं द्वारा अपहृत है और उनका शील दलित है। बौद्ध विहार सम्पत्ति के स्वामी हैं और समाज उनसे व्यथित है। अस्तु, अतिचारी के प्रति विद्रोह का स्वर चाहे वे देशीवा

विदेशी कोई भी रहें हों सर्वत्र मुखर है। विशाख का नरदेव, चन्द्रगुप्त का नन्द, ध्रुवस्वामिनी का रामगुप्त अग्निमित्र का वृहद्रथ अथवा कामायनी के स्वयं साक्षात् प्रजापति मनु ही क्यों न हों लोकमत से पराभूत और अनुशासित हुए हैं। आदर्श यथार्थ बना है और दोनों का समन्वय हुआ है।

एक स्पष्टीकरण : एकांकी अग्निमित्र के आदि में पात्र सूची का अभाव पाठकों को खटक सकता है : किन्तु, वैसी सूची देने में कुछ कठिनाई थी। यथा, पाण्डुलिपि में, जिसे अग्निमित्र का प्राक्-रूप ही कहते बनता है, एक ही पात्र पर्यायक्रम से : पुष्यमित्र और सेनापति नाम से उपस्थित है। स्वाभाविक था कि सम्पूर्ण नाटक लिखा देने के पश्चात् पूज्य पिताजी अग्निमित्र के कलेवर को मार्जित करते और मुद्रणादेश देते। मार्जनोत्तर, किस रूप में अग्निमित्र व्यवस्थित होता, इसकी तो कल्पना भी सम्भव नहीं। मुझे इस प्राक्-रूप को ही यथावत् हिन्दी जगत के माध्यम से राष्ट्र के सम्मुख रखना उचित लगा : कारण, समाज के लिये कुछ मूल्यवान सन्देश इसमें निहित हैं। हाँ, पाण्डुलिपि का आरम्भिक पृष्ठ दुर्लभ हो जाने से, पूर्व-प्रसंग अस्पष्ट हो रहा था अतएव कतिपय वाक्यों का क्षेपक अनिवार्य हो गया, जिसका संकेत यथास्थल मिलेगा।

वस्तुतः अग्निमित्र का पात्र-समुच्चय—सैनिक, भिक्षु, सम्राट् वृहद्रथ, इरावती, सेनापति, (पुष्यमित्र), पतंजलि, बलमित्र, मालव-सैनिक, अग्निमित्र, आठ मालव कुमारियाँ एवं मालव-नागरिकों का है।

रत्नशङ्कर प्रसाद

कल्याणी परिणय

पात्र

चाणक्य
चन्द्रगुप्त
इन्दु शर्मा
चण्ड विक्रम
सिल्यूकस
मेगास्थिनीज
साइर्वटियस
दौवारिक
चर

●

कार्नेलिया : कल्याणी
एलिस
तरलिका चार नर्तकियां

पहला दृश्य

[सिन्धुतट-कानन । चाणक्य टहलता हुआ दिखाई देता है ।]

चाणक्य : वाह ! प्रभात का समय भी कैसा सुन्दर होता है, देखो ।

(पद्य)

अन्धकार हट रहा जगत जागृत हुआ ।
रजनी का भी स्तब्ध भाव अपसृत हुआ ।।
नीलाकाश प्रशान्त स्वच्छ होने लगा ।
दक्षिणपवन-स्पर्श सुखद होने लगा ।।
क्लान्त निशा जो जगी रात भर मोद में ।
चली लेटने आप नींद की गोद में ।।

ऊषा का पट ओढ़ लिया अति चाव से।
अन्तरिक्ष में सोने को शुचि भाव से॥
पर जीवों को जगा दिया कलनाद से।
जो तन्द्रा सुख भोग रहे आह्लाद से॥

(कुछ ठहर कर) पर मुझे भी दिन-रात राज-काज के झगड़ों ने दूसरा ही बना डाला। चाणक्य! तेरी वह शान्ति कहाँ गयी? इस क्रूर कार्य में क्यों तू ने हाथ डाला? हाय, सब कहते हैं कि चाणक्य बड़ा ही दुष्ट है पर उन्हें यह ध्यान ही नहीं कि यह कार्य ही ऐसा है! संसार! संसार!! तेरी लीला अपरम्पार है। मनुष्य को ध्यान भी नहीं रहता कि वह क्या से क्या हो गया। अनिवर्चनीय शक्ति तू ने—

छाया-सा अस्पष्ट चित्र दिखला दिया।
भ्रममय अनुसंधान हमें सिखला दिया॥

नहीं तो कहाँ मैं, और कहाँ यह दुस्तर कुहेलिका-समुद्र संसार!

(स्मरण करके गद्गद कंठ
से आँखें बन्द किए हुए)

आह!
दूर छोड़ कर देश किस जगह आ गया।
यात्री का पद कहो कहाँ से पा गया?
नये-नये हैं साथ राह भी है नयी।
नव विस्मृति के साथ व्यथा नव हो गयी॥
सुख समुद्र के बीच प्रेम का द्वीप था।
चन्द्रदेव का रजत-बिम्ब ही दीप था॥

पवन-सुरभि आनन्दपूर्ण सुख शीत था।
नव वसन्त का राग शान्ति-संगीत था ॥
चिर-वसंत-मय काम्य कुसुम के कुंज थे।
जिनमें विहरणशील रसिक अलिपुंज थे ॥
इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
एक अकेले हमीं रहे न, अनेक थे ॥
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था।
युद्धानन्द विनोद एक ही कर्म था ॥
न था किसी में मोह, कभी न विवाद था।
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था ॥
भीति शीत की भी, न मार्ग की यन्त्रणा।
यह कुचक्र-मय चाल न थी, न कुमन्त्रणा ॥

सैनिक : (प्रवेश करते, स्वागत) रंग-ढंग तो आज निराला है, बाप रे बाप ! किसके लिए कुमन्त्रणा की चक्की तैयार हो रही है ? किसका सिर पीस-कर यन्त्रणा दी जायगी ? कह दें, साहस ही नहीं होता कि कह दें। अच्छा ठहर जायँ।

चाणक्य : (निःश्वास लेकर आंख खोलता हुआ)
तप्त हृदय का उष्ण नहीं निश्वास था।
शुद्ध प्रेम-मय भाव सत्य विश्वास था ॥

सैनिक : (जल्दी से) मन्त्रिवर ! ग्रीक शिविर से एक ब्राह्मण आये हैं।

चाणक्य : (झिड़क कर) चला जा यहाँ से। तुझे किसने यहाँ आने को कहा है ?

सैनिक : (घबराकर काँपता हुआ) उसी ब्राह्मण ने। (जाने लगता)

चाणक्य : (रोककर) उसने अपना नाम भी कुछ बताया है, (कुछ सोचकर) अच्छा, जाओ बुला लाओ। (सैनिक जाता है)

इन्दुशर्मा : (प्रवेश करके) नमस्कार।

चाणक्य : नमस्कार ! कहो जी क्या समाचार है ?

इन्दुशर्मा : अमात्य ! हमारा चन्द्रगुप्त के शिविर में आना आज यवनों पर विदित हो गया, आज मैं किसी तरह वहाँ से चला आया पर अब न जाऊँगा। (पुरजा देकर) यह लीजिए ग्रीक शिविर का विवरण पूरा इसी में लिख दिया है, इसे आप स्वस्थ होकर पढ़ लीजिएगा।

चाणक्य : मित्र ! हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। पर क्या एक बात जानने में तुम हमारी कुछ सहायता कर सकोगे ? क्या यह बता सकते हो कि यवन शिविर में से कुछ स्त्रियाँ जो बाहर निकलकर घूमती थीं, वे कौन थीं।

इन्दुशर्मा : (कुछ सोचकर) वह तो यवन सम्राट् सिल्यूकस की कन्या थी जिसे मैं पढ़ाया करता था।

चाणक्य : ठीक है। मुझे भी यही सन्देह था। अच्छा अब विश्राम करें (इन्दुशर्मा जाता है। चाणक्य फिर टहलने लगता है। कुछ सोचकर) हूँ, तभी चन्द्रगुप्त की यह अवस्था है। अच्छा, पर क्या इतना परिश्रम व्यर्थ होगा। तलवार से नहीं, बुद्धि से नहीं, लक्ष्मी की झलक से नहीं, केवल एक क्षुद्र कटाक्ष से कौटिल्य का कूट चक्र टूट जायगा। कभी नहीं, कभी नहीं। कोई कवि होता तो अवश्य कहता—

कृषण केसर से भरे नव नील सरसीरुह, अहो
देखकर किसका मधुप-मन धैर्य धरता है, कहो ।।
पड़ गयी माला गले जिसके सरस नलिनाक्ष की ।
कंटकों की है लड़ी तैयार कुटिल कटाक्ष की ।।
चुभ गये काँटे जिसे वह एक पग चलता नहीं ।
दलित अपने हृदय को निज हाथ से मलता वहीं ।।

पर मुझे तो ऐसी कपोल कल्पनाएँ अच्छी नहीं लगतीं । चन्द्रगुप्त ! क्या ग्रीक कुमारी के भोगे सुख ने तुझे भुला दिया कि तू ने किस कठिनाई से राज्य पाया है । हूँ, मैं समझ गया । यवनों की एक चाल यह भी है । मछली फँसाने के लिये वंशी फेंक दी गयी है, चारा भी मुँह में लग चुका है । पर अभी वारा-न्यारा नहीं हुआ । (हँसकर) अरे चाणक्य तिमिंगिल और बंसी सहित अहेरी खिंचा चला आये तब तो नाम, नहीं तो ये भी क्या जानेंगे । (घूमकर नेपथ्य की ओर देखकर) उधर देखो, चन्द्रगुप्त चला आ रहा है, मुखमण्डल सन्ध्या के कमल-सा हो गया है, अहा । इसका मलिन मुख हमसे नहीं देखा जाता । सम्भवतः यह प्राभातिक वायु सेवन करके शिविर की ओर लौटा जा रहा है । मैं भी अपना आह्निक कृत्य समाप्त कर चुका हूँ । चलूँ, अभी बहुत-सा कार्य करना है । प्रभात में जो थोड़ी शान्ति मिली थी, इन झंझट के कामों से वह फिर जाती रहेगी
(जाता है) (पटाक्षेप)

चाणक्य : (रोककर) उसने अपना नाम भी कुछ बताया है, (कुछ सोचकर) अच्छा, जाओ बुला लाओ। (सैनिक जाता है)

इन्दुशर्मा : (प्रवेश करके) नमस्कार।

चाणक्य : नमस्कार ! कहो जी क्या समाचार है ?

इन्दुशर्मा : अमात्य ! हमारा चन्द्रगुप्त के शिविर में आना आज यवनों पर विदित हो गया, आज मैं किसी तरह वहाँ से चला आया पर अब न जाऊँगा। (पुरजा देकर) यह लीजिए ग्रीक शिविर का विवरण पूरा इसी में लिख दिया है, इसे आप स्वस्थ होकर पढ़ लीजिएगा।

चाणक्य : मित्र ! हम तुम्हारे कृतज्ञ हैं। पर क्या एक बात जानने में तुम हमारी कुछ सहायता कर सकोगे ? क्या यह बता सकते हो कि यवन शिविर में से कुछ स्त्रियाँ जो बाहर निकलकर घूमती थीं, वे कौन थीं।

इन्दुशर्मा : (कुछ सोचकर) वह तो यवन सम्राट् सिल्यूकस की कन्या थी जिसे मैं पढ़ाया करता था।

चाणक्य : ठीक है। मुझे भी यही सन्देह था। अच्छा अब विश्राम करें (इन्दुशर्मा जाता है। चाणक्य फिर टहलने लगता है। कुछ सोचकर) हूँ, तभी चन्द्रगुप्त की यह अवस्था है। अच्छा, पर क्या इतना परिश्रम व्यर्थ होगा। तलवार से नहीं, बुद्धि से नहीं, लक्ष्मी की झलक से नहीं, केवल एक क्षुद्र कटाक्ष से कौटिल्य का कूट चक्र टूट जायगा। कभी नहीं, कभी नहीं। कोई कवि होता तो अवश्य कहता—

कृष्ण केसर से भरे नव नील सरसीरुह, अहो !
देखकर किसका मधुप-मन धैर्य धरता है, कहो ।।
पड़ गयी माला गले जिसके सरस नलिनाक्ष की ।
कंटकों की है लड़ी तैयार कुटिल कटाक्ष की ।।
चुभ गये काँटे जिसे वह एक पग चलता नहीं ।
दलित अपने हृदय को निज हाथ से मलता वहीं ।।

पर मुझे तो ऐसी कपोल कल्पनाएँ अच्छी नहीं लगतीं । चन्द्रगुप्त ! क्या ग्रीक कुमारी के भोगे सुख ने तुझे भुला दिया कि तू ने किस कठिनाई से राज्य पाया है । हूँ, मैं समझ गया । यवनों की एक चाल यह भी है । मछली फँसाने के लिये वंशी फेंक दी गयी है, चारा भी मुँह में लग चुका है । पर अभी वारा-न्यारा नहीं हुआ । (हँसकर) अरे चाणक्य तिमिंगिल और बंसी सहित अहेरी खिंचा चला आये तब तो नाम, नहीं तो ये भी क्या जानेंगे । (घूमकर नेपथ्य की ओर देखकर) उधर देखो, चन्द्रगुप्त चला आ रहा है, मुखमण्डल सन्ध्या के कमल-सा हो गया है, अहा। इसका मलिन मुख हमसे नहीं देखा जाता । सम्भवतः यह प्राभातिक वायु सेवन करके शिविर की ओर लौटा जा रहा है । मैं भी अपना आह्निक कृत्य समाप्त कर चुका हूँ । चलूँ, अभी बहुत-सा कार्य करना है । प्रभात में जो थोड़ी शान्ति मिली थी, इन झंझट के कामों से वह फिर जाती रहेगी

(जाता है)

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

[शिविर में चन्द्रगुप्त और चण्डविक्रम]

चन्द्रगुप्त : अजी जाकर महामन्त्री से कह दो कि मैं अस्वस्थ हूँ, इससे थोड़ी देर में मन्त्रणागृह में आऊँगा। (स्वगत) इन झंझटों से घड़ी भर भी अवकाश नहीं।

चण्डविक्रम : किन्तु महाराज ! ऐसे रण-प्रांगण में आप क्यों सुस्त हो रहे हैं कुछ समझ में नहीं आता ? आज पाँच दिन से समस्त सैनिक लोग व्यग्रमुख से आपको आज्ञा की आशा कर रहे हैं।

चन्द्रगुप्त : वयस्य चण्डविक्रम। युद्ध कुछ खिलवाड़ तो है नहीं, कि जब इच्छा हुई अकारण सैनिकों का नाश कर दिया जाय। यह तो शत्रु की विशेष गतिविधि पर ध्यान रखकर किया जाता है जिसमें अपनी हानि न हो।

चण्डवि० : (धीरे से) पर मैं देख रहा हूँ कि महाराज के हृदय-पट पर कोई अलक्षित चित्रकार नया रंग भर रहा है।

चन्द्रगुप्त : (चौंककर) क्या कहा, क्या ? तुम तो व्यर्थ ही शंका कर रहे हो।

चण्डवि० : (हँसकर) महाराज ! शंका किस लिए करूँ।

चन्द्रगुप्त : (छिपाते हुए) कुछ नहीं, हमने समझा कि तुम कुछ दूसरी बात समझ रहे हो।

चण्डवि० : महाराज !

नव घन जल सींची जा चुकी जो धरा है।
हृदय सरस जिसका भाव ही से भरा है॥
वह प्रगट न वैसी आर्द्र देती लखाई।
तृण हरित बताते हो गयी है सिंचाई॥

चन्द्रगुप्त : इस कविता का भाव मेरी समझ में नहीं आया।

चण्डवि० : (पद्य)

वसन्त के कानन में खिला जो।
मलिन्द से प्रेम भरा मिला जो॥
गुलाब वो गन्ध छिपा सके नहीं।
समोर-निश्वास कहे जहाँ तहीं॥

चन्द्रगुप्त : (मुस्कराकर) यह तो तुमने अच्छा मघवा का अर्थ बिड़ौजा किया।

चण्डवि० : क्षमा कीजिए, अब मुझे प्रगट कहना पड़ा। अच्छा कल आप मृगया खेलते-खेलते किधर चले गये थे? हम लोगों से जब आप अलग हुए तब मालूम होता है कि मृग तो आपके हाथ लगा नहीं वरन् आप ही किसी मृगनयनी के वरुनी के जाल में फँस गये। मैं तो यही समझ सका, आगे जो कुछ हो।

चन्द्रगुप्त : अब तुम से क्या छिपायें, सुनो। जब मृग के पीछे मैं बहुत दूर निकल गया, तब मुझे मालूम हुआ कि मैं जंगल की सीमा पर चला आया हूँ। अस्तु मैं थोड़ी देर तक वहाँ ठहर गया

क्योंकि मृग झाड़ी में छिप गया था और मैं भी शान्त हो गया था। अभी थोड़ी देर भी नहीं हुई थी कि मृग घोड़ों की टाप सुनकर झाड़ी में से निकलने लगा। मैंने भी अपना धनुष चढ़ा कर ज्यों ही तीर छोड़ना चाहा कि, हाय, मैं स्वयं घायल हो गया। (चुप हो जाता है)

चण्डवि० : हाँ फिर क्या हुआ ? कहिए न, इसी से तो मैं समझता हूँ कि आप छिपाना चाहते हैं।

चन्द्रगुप्त : (क्या कहें) उसी समय मेरे सामने से सुन्दरियों का एक झुण्ड अपने घोड़ों को दौड़ाता हुआ निकल गया। चण्डविक्रम ! मैं तो अवाक्-सा रह गया। मुझे मालूम हुआ कि नन्दनकानन से भूलकर अप्सराएँ इस घोर कानन में चली आयी हैं। अहा ! उसका लावण्य तो मैं कह नहीं सकता जो सब के आगे काले घोड़े पर सवार होकर नीलघन की चपला को लजा रही थी।

(पद्य : लावनी)

वे खुले अलक मारुत से क्रीड़ा करते।
मुखरूप-सिन्धु में लहरों को अनुहरते॥
था रूप मिला परिमल से प्रेम-भरा था।
वर्षा-कानन सा निर्मल हुआ हरा था॥
राका वसन्त-सा मधुर, तीक्ष्ण दिनकर-सा।
गम्भीर शान्ति संगीत सुधामय स्वर-सा॥
आकर्षण था उस चन्द्रकान्ता में ऐसा।
खिंच जाय हृदय लोहा का भी हो कैसा॥

अहा, वह नैसर्गिक सौन्दर्य क्या फिर भी देखने को मिलेगा ?

(नेपथ्य में कोलाहल । सैनिक का प्रवेश)

सैनिक : महाराज की जय हो। शत्रुओं ने अचानक आक्रमण कर दिया है। सेनापति सिंहनाद सेना लेकर अग्रसर हो रहे हैं। (शीघ्रता से) जल्दी घोड़ा खींचने के लिए कहो। चण्डविक्रम ! चलो देखें तो आज ग्रीक लोग कितने वीर हैं। शीघ्र प्रस्तुत हो।

(सैनिक और चण्डविक्रम जाते हैं।)

(अड़ाना झपताला)

आवें लड़ें ग्रीक, हम वीर निर्भीक,
प्रण में रहें ठीक, सब वीर मेरे।
देखे सबल हाथ, रण बीच कर साथ,
अर्पण करें माथ, पहुँचे न डेरे। आवें····

(चन्द्रगुप्त जाता है, चाणक्य का प्रवेश, चाणक्य सीटी बजाता है, गुप्तचर का प्रवेश)

चर : क्या आज्ञा है ?

चाणक्य : कठिन कार्य है। आज तुम्हारी कठिन परीक्षा है।

चर : आप कहिए, मैं अवश्य करूँगा।

चाणक्य : यह तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि चन्द्रगुप्त का पराक्रम ठीक है पर उस पराक्रम की अग्नि में

घी डालने का काम तुम्हारा है। जिस समय चन्द्रगुप्त विजयी हो रहा हो उस समय तुमको उसके पास पहुँचकर यवनकुमारी का ध्यान दिलाना होगा और शिविर भी बतलाना होगा। यदि तुम कृतकार्य हुए तो समझ लेना कि चाणक्य तुम्हें यथेष्ट पुरस्कार देगा। जाओ।

चर : जो आज्ञा ! (जाता है)

(पटाक्षेप)

●

●

तीसरा दृश्य

[सिन्धु तट चन्द्रगुप्त की सेना]

(समवेतस्वर : जयजयवन्ती)

जय जय जय आदि भूमि,
जय जय जय भरत भूमि।
जय जय जय जन्म भूमि,
अपनी सम प्यारी ॥ जय........
निखिल विश्व-गुरु समान,
जिसका गौरव महान्,
प्रति कण में निहित ज्ञान,
प्राण देह धारी ॥ जय.... ...

हम सब हैं महाप्राण,
भारत के शिरस्त्राण।
असि शर धनु धारी ॥ जय……
हिमगिरि सम धीर रहें,
सिन्धु सम गँभीर रहें,
जननी - व्रतधारी ॥ जय……

(चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

सेना : जय ! महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की जय !

चन्द्रगुप्त : वीरगण ! आज जो परिश्रम आप लोगों ने किया वह अकथनीय है। आज ही मुझे मालूम हुआ कि मैं अकेला नहीं हूँ। भारत के अगणित वीरपुत्र सच्चे हृदय से मेरा साथ दे रहे हैं।

सिंहनाद : सब महाराज के चरण का प्रभाव है।

चन्द्रगुप्त : वीरगण ! तुम्हारे ऐसे कर्मण्य वीरों के शौर्य, मेरे साहस और ईश्वर की कृपा के मिल जाने से आज सिल्यूकस की विजयिनी ग्रीक-वाहिनी को हम लोगों से पराजित होना पड़ा है।

सेना : जय, सम्राट् चन्द्रगुप्त की जय !

(चर आकर चन्द्रगुप्त से कुछ धीरे से कहता है और इंगित पाकर चला जाता है।)

चन्द्रगुप्त : (सैनिकों से) वीरगण ! हम लोगों को अभी

और कुछ करना है। ग्रीक नरपशुओं को भारतीय पवित्र धरा से बाहर हाँक देना चाहिए। जिसमें ये फिर हमारी शस्य श्यामला धरा की ओर लोलुप दृष्टि से न देखें।

सैनिक : जैसी महाराज की आज्ञा।

(**चाणक्य का प्रवेश**)

चाणक्य : विजयतां भारत सम्राटः।

चन्द्रगुप्त : आर्य। अभिवादन करता हूँ।

चाणक्य : वत्स ! विजय लक्ष्मीं लभस्व।

चन्द्रगुप्त : आर्य ! इच्छा होती है कि ग्रीक शिविर पर अचानक आक्रमण करके कूट युद्धकारी ग्रीकों को बता दें कि भारत का विजय करना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु और कुछ भी है।

चाणक्य : ग्रीक शिविर में, सेना और सेनापति दोनों को विशेष लाभ की सम्भावना है।

चन्द्रगुप्त : (प्रसन्न होकर) आर्य का आशीर्वाद सादर ग्रहण करता हूँ। अभीष्ट सिद्धि हो।

[चन्द्रगुप्त आगे होता है और सैनिक पीछे-पीछे 'जय जय जय आर्य भूमि' इत्यादि गाते हुए जाते हैं।]

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

[राजकीय कानन]

कठिन कुहक कल्पनामयी,
प्रतिक्षण-सी नित्य नयी।
कल-कल नाद सुनाती है यह
मृग मरीचिका मयी ॥
छाया-सी छोड़ती न छन भर
ऐसी ढीठ भयी।
अंक सदृश बढ़ती है इसकी
प्रतिभा प्रभा नयी ॥

कार्नेलिया : पिता! वृद्ध पिता! तुम्हें आशा कब तक दौड़ाया करेगी? क्या तुम्हारा पहला शासन-विस्तार कम है जो इस पिशाची की छलना में पड़ लाखों जीवों का नाश करा रहे हो। अहा हा! इस शस्य श्यामला धरा को रक्त-रंजित करनेवाले हिंस्र पशु नहीं तो क्या हैं? ये नर पशु ग्रीक-सैनिक मारी की तरह देश का नाश कर रहे हैं। भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या, लूट, रक्त और युद्ध से बीभत्स बनायी जा रही है। वाह कैसा सुन्दर देश है! मुझे इस भूमि से जन्मभूमि का-सा प्रेम होता जा रहा है। जिधर देखो नया दृश्य।

(**परज : तिताला**)

श्यामल कुंज घने कानन ऊँचे शैलों की
माला है।
सिन्धुधार बह रही स्वच्छ जैसे फूलों की
माला है ॥

सतत हिमावृत श्रृंग बहाते इसमें सरिता
धारा है।
स्नेहमयी जननी के मन में जैसे करुणा
धारा है॥
सुखद सूर्य उत्ताप शीत में वर्षा में जल
धारा है॥
शरद गगन में रजत चन्द्रमा घनीभूत ज्यों
पारा है।
हरे भरे सब खेत, सरल मानव, सरला
सब बाला है॥
देव समान उदार-वदन सब इनका ढंग
निराला है।

(एलिस का प्रवेश, कार्नेलिया को देखकर)

एलिस : **(स्वगत)** वाह नया रंग है, पतंग बाढ़ पर है। **(प्रगट)** राजकुमारी !

कार्ने० : कौन ? एलिस, तू, आ गयी। देख इस दृश्य के देखने में मैं ऐसी तन्मय थी कि तेरा आना मुझे मालूम नहीं हुआ।

एलिस : कुमारी ! सन्ध्या का दृश्य तो यों ही मनोहर होता है।

अस्त हुए दिन-नाथ पीत कर कान्ति को।
सरला सन्ध्या लगी बुलाने शान्ति को॥
सांसारिक कलनाद शान्त होने लगा।
विभु का विमल विनोद व्यक्त होने लगा॥

कार्ने० : क्रमशः तारापुंज प्रकट होने लगे।
सुधा कन्द के बीज विमल बोने लगे।

उज्ज्वल तारे शान्त गगन भी नील है।
प्रकृति ढाल में जड़े हीर के कील हैं॥

एलिस : किन्तु कुमारी समय का भी क्या ही प्रभाव है।
(परज)
हुआ काकरव क्लान्त, कोकिला खुल पड़ी।
लगी बुलाने उसे आँख जिससे लड़ी॥
मलयानिल भी मधुर कथा का भार ले।
चला मचलता हुआ सुमन का सार ले॥

कार्ने० : (बात बदलते हुए) सखी, वह सब क्या दिखाई पड़ रहा है ?

एलिस : तरुश्रेणी में सौध सुशैल समान ये।
नागरिकों के हैं प्रमोद उद्यान ये॥
क्यारी में हैं कुसुम विटप मन भावने।
आरोपित हैं यथास्थान काटे, बने॥

कार्ने० : क्यों सखी ! क्या उनको काट-छाँट देने से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य बिगाड़ा नहीं जाता क्या वे उसी तरह नहीं भले मालूम होते ?

एलिस : नागरिकों के हैं प्रमोद की वस्तु ये।
बढ़ सकते हैं नहीं यथेप्सित अस्तु ये॥
उल्लासित हो जिसने हाथ बढ़ा दिया।
यथास्थान रहने को वह काटा गया।

कार्ने० : प्यारी सखी !
प्रकृति उदार करों से जो पाले गये।
नीरद से जल-बिन्दु जहाँ डाले गये।
उन र्वाधित तरुवृन्द प्रफुल्ल सुवास से।
कर सकते समता न अहो ! ये दास से॥

एलिस : कुमारी ! एक बात कहना तो मैं भूल ही गयी, अच्छा न कहूँगी।

कार्ने० : क्या-क्या ? कह दे, तुझे कहना ही होगा।

एलिस : उस दिन सिन्धु तट के शिविर के बाहर जब हम लोग घूमने गयी थीं तब वहाँ एक युवक दिखाई पड़ा था, जिसे तुम बहुत घूम-घूमकर देख रही थीं (रोककर)—

कार्ने० : मैं क्यों देखने लगी। तूने ही कहा कि कोई शत्रुपक्ष का सैनिक है। हम लोगों को बढ़ चलना चाहिए।

एलिस : (हँसकर) हाँ हाँ, तो फिर इतना क्रोध क्यों करती हो सुनो, वही भारतवर्ष का राजा चन्द्रगुप्त था, शिकार खेलते-खेलते उधर आ गया था।

कार्ने० : (अनमनी होकर) होगा। क्या कोई शिविर से दूत आया है ?

एलिस : हाँ ! कहता था कि शाहंशाह सिल्यूकस को कुछ चोट आ गयी है।

कार्ने० : हाय ! सखी मैं बाबा को देखने शीघ्र जाऊँगी। तू भी चल।

एलिस : चलूँगी क्यों नहीं, अच्छा तैयारी करने की आज्ञा दे दें। (जाती है)

(पटाक्षेप)

पाँचवाँ दृश्य

[सिल्यूकस का शिविर]

कार्ने० : बाबा ! क्षमा करना । मेरा हृदय नहीं मानता था । युद्ध का समाचार सुनकर मैं न ठहर सकी, आपने मुझे क्यों हटा दिया था, अब मैं कहीं न जाऊँगी ।

सिल्यूकस : बेटी ! तू आ गयी, इससे मैं क्रोधित नहीं हूँ । मेरे हारे हुए हृदय को तुझसे ढाढ़स मिलेगा ।

कार्ने० : बाबा ! क्या विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त ने पराजित किया ।

[सिल्यूकस चुप रह जाता है ! नेपथ्य में कोलाहल ! रणवाद्य]

सिल्यूकस : हैं ! यह क्या ?

कार्ने० : बाबा मैं बाहर जाकर देखती हूँ, क्या है । (जाती है ।)

(चन्द्रगुप्त के साथ सैनिकों का प्रवेश । सिल्यूकस को घेरकर तलवार छीन लेते हैं वह निश्चेष्ट खड़ा रह जाता है ।)

चन्द्रगुप्त : क्यों ग्रीक सम्राट् ! क्या युद्ध पिपासा अभी नहीं मिटी ? भारत को क्या आप लोगों ने मृगया का स्थान समझ लिया है । यह नहीं जानते कि मृगेन्द्र भी उसी कानन में रहता है ।

(सिल्यूकस चुप रह जाता है । कार्नेलिया का प्रवेश दौड़कर वह सिल्यूकस से लिपट जाती है ।)

चन्द्रगुप्त : (स्वगत) आह ! यह तो वही सुन्दरी है। चर ने ठीक ही कहा था।

सिल्यूकस : बेटी ! तू इन लोगों से मेरे लिए कुछ प्रार्थना मत करना। यह सदैव ध्यान रखना कि ग्रीक रक्त तेरे अंग में है।

कार्नें० : बाबा ! क्या मैं सिल्यूकस की कन्या नहीं हूँ ! क्या आप वीरों की तरह मरना नहीं जानते ? (चन्द्रगुप्त को देखकर) सुन्दर युवक !

चन्द्रगुप्त : (स्वगत) सिंह के योग्य सिंहनी है। (प्रगट) मैं इस युद्ध का परिणाम तुम्हारे ही ऊपर छोड़ता हूँ। ग्रीकसम्राट् क्या फिर आर्य वीरों से

कल्याणी परिणय :: २३

लड़ेंगे। आशा है कि तुम इसे बड़ी सरलता से कर सकती हो। आशा है कि तुम से दो-एक दिन में उत्तर मिलेगा। (सिल्यूकस से) आप मुक्त हैं। अब मैं जाता हूँ।

[पटाक्षेप]

छठवाँ दृश्य

[दुर्ग का उद्यान। सिल्यूकस]

सिल्यूकस : आह !, बड़ी मर्मवेदना ! घोर अपमान ! क्या इसका प्रतिशोध नहीं लिया जा सकता !

(साइबर्टियस और मेगास्थिनीज का प्रवेश)

साइबर्टियस : (अभिवादन करके) सम्राट् ! चन्द्रगुप्त की सेना ने चारों ओर से ऐसी व्यूह रचना की है कि इस दुर्ग को भी आप घिरा समझिए।

सिल्यूकस : क्यों ? उसने तो हम लोगों को मुक्त कर दिया था। फिर अवरोध क्यों ?

मेगस्थिनीज : यह उसके मन्त्री चाणक्य की चाल है। उसने प्रसिद्ध कर रखा है कि 'यह सेना आप लोगों को रोकने के लिए नहीं प्रत्युत अपनी रखवाली के लिए है।'

सिल्यूकस : उन लोगों का तात्पर्य क्या है ? जब एक बार मैत्री हो गयी फिर ऐसा क्यों ?

मेगस्थिनीज : सम्भव है कि वह कुछ नियम स्वीकार कराना चाहता हो।

सिल्यूकस : क्यों ? क्या ग्रीक इतने कायर हो गये ?

साइबर्टियस : आपको अपने उस रक्षित साम्राज्य का भी ध्यान रखना चाहिए।

सिल्यूकस : क्या कोई नया समाचार उधर से आया है।

साइबर्टियस : आण्टिगोनस शीघ्र ही सीरिया पर चढ़ाई किया चाहता है (पत्र देकर) इसे पढ़ लीजिए। उसका ध्यान करके चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लेना ही ठीक होगा। क्योंकि यह आपका प्रबल शत्रु है जो आपके समीप है।

सिल्यूकस : (पत्र पढ़कर) अच्छा मैं यह कार्य तुम दोनों आदमियों के ऊपर छोड़ता हूँ। इसे जैसा ठीक

समझो, करो। (दोनों जाते हैं।) कार्नेलिया से भी तो पूछूँ वह क्या कहती है। (जाता है)

[पटाक्षेप]

सातवाँ दृश्य

[प्रकोष्ठ—कार्नेलिया गाती है]

(पद्य : सोहनी)

कार्नेलिया : कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।
पड़ता है पतंग-सा इसमें,
मन का ढंग निराला।
सान्ध्य गगन-सी रागमयी यह
बड़ी कड़ी है हाला॥
काँटे छिपे गुँथे हैं इसमें है फूलों की माला।
चुभने पर नहिं अलग हृदय से,
मन होगा मतवाला॥

श्रृंगार और वीर का कैसा सुन्दर समावेश है। अहा कैसी वीरत्व व्यंजक मुखाकृति है! वह एक बार, केवल एक बार देखकर भुलाई जा सकती थी। पर यह दूसरा दर्शन दुबारा खींची हुई मदिरा की तरह हृदय को उन्मत्त बनाये देता है। (ठहरकर) किन्तु बाबा को उसने पराजित किया। बन्दी बनाया। फिर मेरा हृदय क्यों उसकी ओर इतना आकर्षित होता

है। कभी नहीं, कभी नहीं। मैं अपने हृदय को उसकी ओर से फेरूँगी। (ऊपर देखकर) कौन तू मुझे भुलाने आयी है क्या? वह मुक्त कर देना याद दिलाती है, हाँ, हाँ, मैं उसे न भूलूँगी, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ पर इसका परिणाम भी तो मेरे ऊपर छोड़ा गया है। (ठहरकर) क्या करूँ? हाँ, क्या कहा था कि 'आप मुक्त हैं, अब मैं जाता हूँ।' अहा क्या ही सुरीला कण्ठस्वर था! कैसा उन शब्दों का प्रभाव था। (गाती है।)

(पद्य : विहाग)

जैसी मधुर मुरलिया श्याम की।
वैसी गूँज रही है बोली प्यारे मुख
अभिराम की।
हुए चपल मृग नैन मोह-वश बजी विपंची
काम की॥
फैल रही है मधुर माधवी गंध अंग
छविधाम की।
रूप सुधा के दो प्याले दृग नेही मति ये
काम की॥

आह! आलोक! छाया! सौन्दर्य! संगीत! सुगन्ध! सब चन्द्रगुप्त! क्या करें वह नहीं हटा है, मेरी आँखों का तारा हो रहा है (बैठ जाती है। सिल्यूकस का प्रवेश! एक और खड़ा हो जाता है।)

कार्नं० : चन्द्रगुप्त! मैं ग्रीक सम्राट् की कन्या, तुम

हिन्दू राजकुमार। क्या किया जाय। बाबा! क्या तुम मेरा आन्तरिक भाव बिना कहे नहीं समझ सकते ?

सिल्यू० : (प्रकट होकर) क्या है बेटी, क्यों उदास हो, क्या मेरे सोच ने तुम्हें जगा रखा था, तेरा स्वास्थ्य तो ठीक है न ?

कार्ने० : (घबराकर) नहीं बाबा! अब कब यहाँ से चलिएगा ?

सिल्यू० : शीघ्र चलूँगा, बेटी क्या तुम्हारी राय है कि मैं चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लूँ, जिस तरह वह कहे।

कार्ने० : हाँ, बाबा। शीघ्र चलिए।

सिल्यू० : जाओ सो रहो, तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं मालूम होता। (दोनों का प्रस्थान)

[पटाक्षेप]

आठवाँ दृश्य

[उद्यान मेगस्थिनीज और सिल्यूकस]

सिल्यू० : कोई अच्छा समाचार तुम ले आये होगे, शीघ्र कहो।

मेगा० : सम्राट्। सन्धि करने पर तो हिन्दू लोग प्रस्तुत हैं, पर नियम बड़े कड़े हैं। वे कहते हैं

कि 'सिन्धु के उस तट के कुछ देश हम लोग लेंगे और....'

सिल्यू० : चुप क्यों हो गये, कहो, वे नियम चाहे कितने ही कड़े हों पर मैं उन्हें ध्यान से सुनना चाहता हूँ।

मेगा० : सुनिए, चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री चाणक्य ब्राह्मण है। उसने कहा कि यदि सन्धिबन्धन दृढ़ रखना चाहें तो ग्रीक सम्राट् अपनी कन्या का विवाह महाराज चन्द्रगुप्त से कर दें। तब सम्भव है कि महाराज चन्द्रगुप्त भी उपस्थित ग्रीस विप्लव में तुम्हारी कुछ सहायता करें।

सिल्यू० : क्या चन्द्रगुप्त को मालूम हो गया कि आण्टि-गोनस से और हमसे शीघ्र कोई लड़ाई होने वाली है।

मेगा० : इतना ही नहीं, उसका मन्त्री चाणक्य कहता था कि 'सिकन्दर' के साम्राज्य में जो भावी ग्रीस-विप्लव है उसे मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ। ऐसी अवस्था में सिल्यूकस भारत की आशा छोड़ें। उनको सीरिया मिलना भी कठिन हो जायगा। इस कारण ग्रीक सम्राट् यदि चन्द्रगुप्त को अपना बन्धु बनायेंगे तो उनको बहुत-कुछ सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त इस विशाल भारत की सम्राज्ञी भी तो उन्हीं की कन्या होगी। मनुष्य सन्तान के लिए ही सब कुछ करता है, इस सम्बन्ध से

भारत का साम्राज्य भी आपके प्रेम-बन्धन में बँधा रहेगा।

सिल्यू० : मेगस्थिनीज, इन हिन्दुओं को केवल बाहुबल की ही प्रधानता नहीं है बल्कि ये बड़े तीक्ष्ण बुद्धि भी होते हैं। (ठहरकर) क्या इन भीमकाय हाथियों का झुण्ड सीरिया युद्ध में कुछ काम दे सकता है?

मेगा० : सम्राट्! मेरी समझ में तो ये अवश्य आपको विजय दिलायेंगे।

सिल्यू० : किन्तु, दो भिन्न जातियों में विवाह किस प्रकार हो सकता है।

मेगा० : क्या आप उस पारस कुमारी का ध्यान भूल गये जो राजकुमारी की गर्भधारिणी थीं।

सिल्यू० : (स्वगत) बेटी की अनुमति तो एक प्रकार से मिल चुकी है। वह तो चन्द्रगुप्त पर अनुरक्त हुई है। (प्रगट) क्या तुम्हारी इच्छा है कि यह सन्धि जिस प्रकार हो अवश्य कर ली जाय।

मेगा० : भारत सम्राट् से ग्रीक सम्राट् यदि सम्बन्ध रखें तो यह अच्छी बात है, क्योंकि यह सर्वथा उपयुक्त है।

सिल्यू० : अच्छा। (दोनों जाते हैं।)

[पटाक्षेप]

नवाँ दृश्य

[चन्द्रगुप्त बैठा है, तरलिका पान ले आती है, दरबार]

चन्द्रगुप्त : तरलिके ! आज पान तो बहुत ही अच्छा लगाया है। बहुत दिनों से इधर ऐसा स्वाद पान का नहीं मिला था।

तरलिका : प्रभु की रुचि विचित्र है। मैं इतनी प्रशंसा के योग्य नहीं हूँ।

चन्द्रगुप्त : तरलिके ! मैं सच कहता हूँ।

तरलिका : नाथ ! जब चित्त को प्रसन्नता मिलती है तब बुरी वस्तु भी भली मालूम होती है।

चन्द्रगुप्त : तरलिके ! मैं तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होता हूँ।

तरलिका : महाराज, बहुत दिनों के बाद आज मैंने एक माला बनायी है, उसे आप स्वीकर करें। (माला पहना देती है।)

चन्द्रगुप्त : (हँसकर) इन फूलों का रस तो भँवरे ले चुके हैं।

तरलिका : (हँसकर) महाराज। यह तो भँवरों की ही धृष्टता है, कलियों का क्या दोष ?

(गाती है—राग मांड़)

पाया जिसमें प्रेम-रस, सौरभ और सुहाग,
अली उसी ही कली से मिलता सह अनुराग।
अली नहिं एक कली का है।

कुसुम धूलि से पूर हो चलता हो उस पन्थ।
डरे न कंटक को अली पढ़े प्रेम का ग्रन्थ।
अली नहिं एक गली का है।
रजनी में सुख केलि को किया कमलिनी पास।
भयी मुद्रिता तब तुरत अली चमेली पास।
पढ़े यह पाठ छली का है।'
चाहे होय कुमोदिनो या मल्ली का पुंज।
अलि को केवल चाहिये सुखमय क्रीड़ा कुंज ॥
सुप्रेमी रंगरली का है।
अली नहिं एक कली का है।

चन्द्रगुप्त : तरलिके ! कविता नयी है।

तरलिका : (हँसकर) महाराज समय ही नया है।

चन्द्रगुप्त : तरलिके ! मैं तुमसे इस समय बहुत प्रसन्न हुआ अच्छा जाओ।

(तरलिका का प्रस्थान। दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक : महाराजधिराज की जय हो। महामात्य चाणक्य जी आ रहे हैं।

(चाणक्य का प्रवेश—चन्द्रगुप्त उठकर उन्हें बिठाता है)

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव ! सन्धि क्या स्वीकृत हो गई ? (हँसकर) आपकी मंत्रणा बड़ी गूढ़ होती है। कुछ समझ में नहीं आती।

चाणक्य : वत्स ! तुम राजा ठहरे, तुम्हीं सोचो कि शत्रु को पाकर भी तुमने क्यों छोड़ दिया ? वह भी क्या हमारी मंत्रणा से किया गया था ?

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव ! एक बार एक ग्रीक सम्राट् ने महाराज पुरु के साथ ऐसा ही व्यवहार किया था।

चाणक्य : अस्तु, अब तुम्हें मालूम हो जाता है चाणक्य ने क्या किया।

(तूर्य्यनाद-दौवारिक के साथ सिल्यूकस, कार्नेलिया, साइर्बटियस और मेगस्थिनीज़ का प्रवेश। चाणक्य सबको यथास्थान बिठाता है।)

सिल्यूकस : महाराज चन्द्रगुप्त ! आपके शौर्य से हम बहुत प्रसन्न हैं।

चन्द्रगुप्त : यह आपकी महानुभावता है।

सिल्यूकस : मैं आप से सहर्ष मैत्री करूँगा।

मेगस्थिनीज : और यह बन्धन दृढ़ होवे इसलिए राजकुमारी का विवाह भी महाराज चन्द्रगुप्त से हो जाय तो अच्छा है।

चाणक्य : हाँ ठीक है। दो बालू के करारों को यथास्थान ठीक रखने के लिए एक सरला सरिता की आवश्यकता है।

चन्द्रगुप्त : (सलज्ज) जैसी गुरुवर की आज्ञा।

(सिल्यूकस-कार्नेलिया को साथ में लिये बढ़ता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त से कल्याणी का हाथ मिला देता है। दोनों साथ बैठते हैं, चन्द्रगुप्त उसे माला पहनाता है और वह सादर ग्रहण करती है।)

सिल्यूकस : बेटी ! इससे उपयुक्त वर तुम्हारे लिये मैं नहीं खोज सकता था। और पिता का कन्या के लिये यही प्रधान कर्तव्य है।

कल्याणी : जैसी पिता की आज्ञा।

सिल्यूकस : और तुम्हें उपहार स्वरूप में अरकोसिया और जैड्रोसिया आदि प्रदेश देता हूँ।

कल्यांणी : बाबा! क्या आप मुझे यहाँ छोड़ देंगे।

सिल्यूकस : नहीं बेटी! मेगास्थिनीज़ बराबर यहाँ आया करेगा।

चाणक्य : तो क्या आप शीघ्र स्वदेश की ओर प्रस्थान कीजिएगा।

सिल्यूकस : मुझे अपने एक प्रबल शत्रु से सामना करना होगा।

चाणक्य : सेनानी चण्डविक्रम एक बड़ी सेना हाथियों की लेकर आपकी सहायता को जायँगे।

सिल्यूकस : अच्छी बात है।

(नर्तकीगण आकर गाती हैं)

("पपीहा काहे"की धुन)

सखी सबही विधि मंगल आज।
सब मिलके आनन्द मनावें अचल रहे यह राज।
अपने भुजबल से किया, अर्जित नव साम्राज।
ऐसे श्री सम्राट् का, अविचल हो यह राज॥ स०

गौरव लक्ष्मी ग्रीस की, अर्द्धांगिनि सी वाम।
कल्याणी को देखकर, पूर्ण हुआ मन काम॥ स०
जिसके बल के सिन्धु में, गज सम थके अराति।
चन्द्रगुप्त-भुज वे सदा, सबल रहे सब भाँति॥ स०
रहे आनन्दित राज समाज,
आवें गावें विमल कीर्ति सब देवांगना समाज। स०

जिसकी प्रतिभा नदी में, शत्रु-विघ्न द्रुम-मूल।
उन्मोचित हो, सो जयति, विष्णुगुप्त अनुकूल ।।
सुखी हो भारत विज्ञ समाज,
भारत की यह कथा विजयिनी रहे सदा सिरताज।
सखी सबही विधि मंगल आज।
जय महाराज चन्द्रगुप्त की जय !!

(पटाक्षेप)

अग्निमित्र

पूज्य पिता जी के सम्पूर्ण साहित्य में केवल यह अग्निमित्र नाटक लिपिक-माध्यम से प्रस्तुत हुआ है : कदाचित् तब (१९३५) उनके चिन्तन का स्वरूप कुछ ऐसा हो चला था जो युगपत् लेखन से व्याहत होता। इसके लिखित अंश को उसी समय यत्र-तत्र संशोधन-पूर्वक मार्जित कर देते। उनके निधनोपरान्त, कुछ ही समय बाद इसकी मूल लिपि-प्रति प्रकाशनार्थ एक पत्रकार मित्र ले गये और किसी स्थानीय पत्र अथवा पत्रिका में प्रकाशित हुआ : किन्तु उसकी प्रकाशित प्रति मुझे उपलब्ध नहीं। कोई विद्वान उसकी जानकारी दे सकें तो उपकार होगा। अभी जो मूल प्रति मेरे पास है और जिसके आधार पर यह प्रकाशन मुद्रित हो रहा है उसमें अधूरी आदि पंक्ति "को भी नहीं देख पाता" से सैनिक का कथन चल रहा है।

अब, इस प्रसंग में भारी कठिनाई यह उपस्थित हुई कि दृश्य-संकेत और चल रहे सैनिक-भिक्षु संवाद की पूर्व-शृंखला पाठकों के समक्ष कैसे प्रस्तुत हो। सौभाग्यवश "इरावती" (पृष्ठ ६१ षष्ठ आवृत्ति) में अग्नि-मित्र भिक्षु से कह रहा है (पाटलिपुत्र में) "ओह ! तुम्हारे इस कुहर में मनुष्य अपने जीवन को भी नहीं प्राप्त कर रहा है। न जाने कब इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और बन्दिनी मानवता मुक्त होगी।" इससे परिवेश और परिपार्श्व अनुमित हो रहे हैं : सुतराम्, परिस्थितिवशात् बाध्य हो अग्निमित्र के प्रारम्भ में दृश्य-संकेत और साढ़े आठ संवाद का क्षेपक लगाने में प्रकारान्तरेण अपराधी बन रहा हूँ, आपद्धर्म के रूप में इसे लिया जाय तो कदाचित् अनुचित न होगा।

●

[उज्जयिनी में शिप्रा तट पर कुक्कुटाराम का द्वार। एक भिक्षु सिर झुकाये टहल रहा है। एक क्रुद्ध और उद्विग्न अश्वारोही सैनिक वेग से आकर उसके समीप रुकता है]

सैनिक : (सरोष) क्या तुम्हीं इस कुक्कुटाराम के स्थविर हो ?

भिक्षु : (मन्द स्वर में) शान्त हो उपासक। ऐसा अविनय क्यों ?

सैनिक : (क्षोभ से) शान्त ! मृत्यु-शीतल शून्यता की व्यवस्था देने वाले वाग्जाल की विज्ञप्ति बहुत हो चुकी। उत्तर दो तुम्हीं स्थविर हो या अन्य कोई ?

भिक्षु : (अन्तरिक्ष को देखते) यह पिशंग सन्ध्या शून्य का ही विवर्त्त कर रही है। देखो ! न दिन है न रात, दिवापाति का निर्वाण हो रहा है। समग्र विश्व मानों तथागत की पीली संघाटी में आश्रय ले रहा है........

सैनिक : (पैर पटकते) बको मत।

भिक्षु : धैर्य धरो, अनुद्विग्न हो जाओ, धर्म का पथ प्रशस्त है, सुआख्यात है। मैं तुम्हें आर्य सत्य बता शील में प्रतिष्ठित करूँगा। आओ, यहाँ

निर्वाण का........

सैनिक : निर्वाण ! मैं उसमें विश्वास नहीं करता वह भी शून्य है—असत् है—सबसे बड़ा अन्धकार है। तुम्हें उस दिवापति का निर्वाण दीख रहा है

जो आगामी कल अपनी सम्पूर्ण प्रभा से उदित होने वाला है, तथागत की पीली संघाटी की छाया के बाद ? आ रहा है निविड़ अन्धकार ! तुम्हारा वह निर्वाण ढूँढ लूँगा किसी दूसरे जन्म में जब जीवन अपनी सार्थकता खो देगा। मालव पुनर्जन्मवादी हैं।

भिक्षु : कदाचित् इस पवित्र कुक्कुटाराम के महा-स्थविर को तुम पूछ रहे थे.......

सैनिक : (व्यंगपूर्वक) मेरा प्रश्न भी शून्य बन गया ? अभी कदाचित् लगा रखा है (कुक्कुटाराम की ओर इङ्गित) इस नीहार भरे कुहर में मनुष्य के सामान्य जीवन को भी नहीं देख पाता। न जाने कब तुम्हारे इस कुक्कुटाराम की प्राचीर गिरेगी और उसमें बन्दिनी मानवता मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

भिक्षु : (घृणा से) अनार्य ! तुम कितने पाप-मति हो ?

सैनिक : भिक्षु ! तुम्हारा पुण्य न जाने कब धोखे में पाप बन गया है। हाँ, वह पुण्य था। किन्तु अब मानवता को वह किधर ले जा रहा है, इस पर कभी विचार किया ? इस पवित्र मानव-जीवन की, इस चैतन्य ज्वाला की उपयोगिता क्या निर्वाण में बुझ जाने में है ?

[भिक्षु हताश होकर उसकी ओर देखता चुप रह जाता है। भीतर घंटा की ध्वनि होती है और उसी द्वार से भिक्षुणियों का दल निकलता है। घंटा की ध्वनि बन्द हो जाती है और सजीव शोक प्रवाह-सी

भिक्षुणियों की पाँत, अभ्यास से विषादपूर्ण पाद विक्षेप करती हुई एक ओर चली जाती है। नेपथ्य में गीत]

सुख साधन में भूल न रे मन!
भव तृष्णा न मिटेगी तेरी
आशा दोला झूल न रे मन!
रूप, वेदना, क्षणिक रंग हैं
खिल-खिल कर यों फूल न रे मन!

[भिक्षु और सैनिक जैसे उन्हें न देखते हुए सविनय सिर झुका लेते हैं। सहसा सैनिक एक सुपरिचित मूर्त्ति देखकर जिधर भिक्षुणियों का दल नेपथ्य में चला जाता है उसी ओर देखने लगता है। आवेश से आगे बढ़ता हुआ]

इरावती! इरावती! सुन लो, चली न जाओ।

भिक्षु : फिर वही अभिनय!

सैनिक : चुप रहो भिक्षु। यह किस क्रूरकर्म्मा का विधान है! जिसे ऊषा की उल्लसित लालिमा में विकसित होना चाहिए, उसे तुम—नहीं तुम्हारे धर्म-दम्भ ने दिनान्त की सन्ध्या के पीलेपन में डूबते हुए मुरझायी साँस लेने की आज्ञा दी है। इरावती, जिसको वसन्त की कोकिला की तरह मादक तान लेनी चाहिए वह चिर शोक संगीत-सी महाशून्य में चली जा रही। तुम कहोगे कि इससे धर्म का प्रचार होता है। किन्तु........।

भिक्षु : युवक! धर्म ही मानव हृदय में शान्ति और उपशम का साधन है।

सैनिक : हृदयहीन धार्मिक ! शान्ति होगी कहाँ ? तुम्हारे क्षणिक विज्ञान के राज्य में शान्ति ठहरेगी कहाँ ? तुम क्या जानो ? यौवन-काल के सम्पूर्ण समर्पण करने वाले हृदय में घोर दुःख और कष्ट में भी कितना विश्वास और कितनी शान्ति होती है। वह शान्ति तुम्हारी-जैसी मृतक-शान्ति नहीं। किन्तु मैं यह क्या कह रहा हूँ ? तुम उसे क्या समझोगे ? (विनम्र होकर) स्थविर ! क्षमा करो ! मैं अतिवादी हूँ। बताओ इरावती को संघ की मृत्यु-शीतल छाया में किसने भेज दिया है ?

भिक्षु : (हँसकर) सम्राट् ने।

सैनिक : ओह ! सम्राट् ने ?

[भिक्षु नेपथ्य की ओर देखकर चुप रहने का संकेत करता है। उल्काधारी सैनिक और परिचारिकाओं से घिरा हुआ शिविकारूढ़ सम्राट का प्रवेश युवक झुककर अभिवादन करता हुआ हट जाता है]

सम्राट् : (भिक्षु को देखकर) भन्ते ! मैं वन्दना करता हूँ।

भिक्षु : कल्याण लाभ हो।

सम्राट् : संघ सकुशल है न ? धर्म-चर्या में कोई व्याघात तो नहीं ?

भिक्षु : आपके यशस्वी शासन में संघ सब प्रकार से सुखी होकर धर्माचरण कर रहा है।

सम्राट् : यह प्रसन्नता की बात है। मालूम होता है कि आप वायु सेवन करके लौट रहे हैं।

भिक्षु : नहीं, भिक्षुणियों की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वे टहलकर आती ही होंगी।

सम्राट् : अच्छा उन कुमारियों का क्या हुआ जिन्हें मैंने संघ में भिजवा दिया था। युवतियाँ खड्ग लिए एक ध्वज की परिक्रमा करें—यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने ठीक किया न ?

भिक्षु : वह तो सम्राट् ने धर्मानुकूल ही किया। भूली हुई अधार्मिक क्रियाओं का पुनः प्रचार करने में आपकी मालव सेना ने न जाने क्या गुप्त रहस्य रखा है ?

सम्राट् : (**जैसे सचेत होकर**) ठीक कहा आपने ! इन्द्रध्वज का तो बहुत दिनों से नाम भी नहीं सुना गया था। उहँ, होगा कुछ।

भिक्षु : महाराज, मुझे तो बड़ा सन्देह है।

सम्राट् : (**भय से इन्द्रध्वज को देखता हुआ**) बलमित्र ! कुमारामात्य सेनापति पुष्यमित्र को यहीं बुला लो।

[**बलमित्र जाता है। सम्राट् के संकेत से शिविका रख दी जाती है**]

सम्राट् : स्थविर ! आप भी इस शिला खंड पर बैठ जायँ मैं सेनापति की प्रतीक्षा करूँगा।

[**भिक्षु शिला खंड पर बैठ जाता है और भिक्षुणियों का दल उसी तरह लौटता है**]

सम्राट् : (**कुतूहल से देखता हुआ**) सुन्दर ! संघ ने बहुत-सी धार्मिक क्रियाओं में रोचक परिवर्तन किये हैं।

भिक्षु : भगवान् तथागत ने समयानुकूल नियमों में परिवर्तन करने की इसीलिए आज्ञा दी है।

(भिक्षुणियाँ समीप आती हैं)

सम्राट् : आर्य, क्या ये सब इन्द्र-कुमारियाँ हैं ?

भिक्षु : नहीं, इनमें केवल एक ही है। और सब तो संघ के कड़े नियमों का पालन करने में अस्वस्थ हो गयी हैं।

सम्राट् : जो स्त्रियाँ अवरोध के नियमों का न पालन करें उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है।

इरावती : (आगे बढ़ कर) सम्राट् ! यह अन्याय है। मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध भिक्षुणी बना देना राजशक्ति का परिहास है।

सम्राट् : (उसे सस्पृह देखता हुआ) तुम, अन्याय का नाम न लो।

[वेग से सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : सम्राट् की जय हो ! अन्याय का नाम न लेने से वह छिप जाय, ऐसी बात नहीं। वह पीड़ित के प्रतिबिम्ब में भयंकर मूर्त्तिमान होकर सबकी आँखों के सामने नाचता है।

सम्राट् : (रोष से) तुम कौन हो ? दुर्विनीत। वाचाल !

सैनिक : मालव सेना का एक नायक।

सैनिक : (इरावती से) इरे, तुम सम्राट् से अपने कुल में लौटने की आज्ञा माँगो।

सम्राट् : नहीं, जो स्त्रियाँ अवरोध में न रह सकें, उनके लिए संघ ही उत्तम आश्रय है। नियमों का पालन करना राष्ट्र की प्रजा के लिए उतना ही आवश्यक है जितना श्वास-प्रश्वास लेना।

सैनिक : देव, जीवन के स्वतन्त्र विकास को रोकने वाले नियम राष्ट्र की उन्नति को भी रोकते हैं। भारतीय विचारकों ने इसे अच्छी तरह समझा है। स्वर्गीय विश्व-विश्रुत महाराज धर्माशोक ने श्रमण और ब्राह्मण के धर्माचरण में बाधा न डालते हुए जो साधारण संशोधन प्रचलित किये थे, उनका अब अतिक्रम किया जा रहा है। मालवों ने राज सिंहासन की जिस निष्ठा के साथ सेवा की है, उसको यों अवहेलना न होनी चाहिए। इस मालव कुमारी को संन्यास-बन्धन से मुक्त करने की आज्ञा दीजिए।

सम्राट् : (सरोष) धृष्ट युवक ! तू मुझे शिक्षा देना चाहता है ? (**भिक्षुणियों की ओर देख कर**) आर्य स्थविर ! इन्हें संघाराम में जाने की अनुमति दीजिए। (**भिक्षु के संकेत करने पर भिक्षुणियाँ जाने लगती हैं।**)

सैनिक : ठहरो इरा ! (**इरावती रुक जाती है।**)

सम्राट् : ऐं ! [**सेनापति पुष्यमित्र और बलमित्र का प्रवेश**]

पुष्यमित्र : राजाधिराज की जय हो ! [**बलमित्र से कड़क कर**] इन दोनों युवक और युवती को बंदी करो, और शीघ्र यहाँ से ले जाओ।

[**पुष्यमित्र के इस आकस्मिक आचरण से सम्राट् कुछ चकित और कुछ विमूढ़-सा हो जाता है। सैनिक और इरावती का बलमित्र के साथ प्रस्थान**]

भिक्षु : देव ! संघ की सीमा में आज यह पहला अवसर है कि एक भिक्षुणी बन्दिनी बनायी

जाय। संघ–महास्थविर की आज्ञा ही यहाँ ऐसे विषयों में प्रधान होती रही।

सेनापति : (विनम्र होकर) आर्य ! मुझे तो यह नहीं मालूम था कि राज-शक्ति से ऊपर भी किसी की शक्ति माननीय है, चाहे वह संघ ही क्यों न हो।

सम्राट् : (कुछ प्रसन्न-सा होकर) आर्य ! इस विवाद को मैं स्वयं महास्थविर से जाकर समझ लूँगा। अभी तो जो सेनापति ने किया वही ठीक है।

सेनापति : मैं अनुगृहीत हुआ महाराज ! किन्तु मेरी पहले की प्रार्थना के अनुसार क्या इन्द्रध्वज महोत्सव को श्रीमान् न कृतार्थ करेंगे ? आज उत्सव का अन्तिम समारोह है। मालव सैनिक रात्रि की रणचर्या का कृत्रिम प्रदर्शन करेंगे।

सम्राट् : (विरक्त होकर सन्दिग्ध भाव से) मुझे तुम्हारा इन्द्रध्वज कुछ समझ में नहीं आता। यह क्या उपद्रव है ?

पुष्यमित्र : देव, आर्य जाति के महावीर इन्द्र की पताका की पूजा राष्ट्र में शौर्य और तेज की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

भिक्षु : सेनापति ! हिंसा को उत्तेजना देना धर्म-विरुद्ध है।

सम्राट् : (कुछ चंचल-सा होकर) सेनापति ! धार्मिक विधानों में हस्तक्षेप करने का तुम्हारा अभिप्राय तो नहीं होगा ?

सेनापति : कदापि नहीं महाराज ! आर्य स्थविर की यह-

अहिंसा एक प्रतिक्रिया है। राष्ट्र में जैसे नृशंसता स्पृहणीय नहीं वैसे ही कायरता भी अभीष्ट न होगी। उत्तर-पश्चिम में यवन मिलिन्द तथा पूर्व-दक्षिण में जैन खारवेल अपने बल को बढ़ा रहे हैं। किसी भी क्षण मौर्य-साम्राज्य को निगल जाने के लिए ये दोनों शक्तियाँ अग्रसर हो सकती हैं।

सम्राट् : सेनापति ! हम लोग भविष्य की चिन्ता में प्रायः वर्तमान को भी नष्ट कर देते हैं। आक्रमण की वैसी सम्भावना नहीं जैसी आप सुना रहे हैं। तो भी मैं चाहता हूँ कि यह इन्द्र-ध्वज शीघ्र हटा दिया जाये।

पुष्यमित्र : **(सिर झुकाकर)** उत्तम होता कि सम्राट् अपनी आज्ञा पर फिर विचार करते। मालवों की दुर्द्धष वीर सेना....।

सम्राट् : दुर्द्धर्ष ! क्या कहते हो सेनापति ! मालवों का नाम मैं इतनी बार नहीं सुनना चाहता। मैं विनीत और दुर्द्धर्ष दोनों का नियामक हूँ। मैं सम्राट् हूँ।

[पुष्यमित्र सिर झुका लेता है और भिक्षु के साथ सम्राट् सपरिचर खुले फाटक से भीतर जाता है]

पुष्यमित्र : इधर ? या उधर ? यह दुर्बल, धर्म के आडम्बर में महा-विलासी नाममात्र का सम्राट् ! क्षत्रिय दार्शनिक और संन्यासी भिक्षु हो रहे हैं। इसलिए ब्राह्मण पुष्यमित्र ने शस्त्र ग्रहण करके

आज तक मगध राष्ट्र की रक्षा की है, किन्तु भीतर उपप्लव और बाहर से आक्रमण ! पुष्यमित्र ! अब तुम क्या करोगे ? और अग्निमित्र, जिसे मैं इतने दिनों तक बचाता रहा, आज उसकी भेंट सम्राट् से हो ही गयी। कैसी विचित्र परिस्थिति है ? उस उच्छृङ्खल युवक को मैं विदिशा से आने नहीं देता था। क्या करूँ ? [व्यग्र होकर टहलने लगता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी के वेश में पतंजलि का प्रवेश]

पुष्यमित्र : नमस्कार, इस समय आपकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता थी।

पतंजलि : (शिला खंड पर बैठते हुए) मेरी आवश्यकता ? आश्चर्य !

पुष्यमित्र : मैं इस समय अत्यन्त उद्विग्न हूँ।

पतंजलि : (सहज भाव से) होना ही चाहिए। किन्तु इस जड़ता से आच्छन्न, निर्मम उदासीनता में किसी तरह की बौद्धिक उत्तेजना में पड़े हुए सेनापति को देखकर मुझे तो प्रसन्नता ही हो रही है।

पुष्यमित्र : मैं क्या करूँ ?

पतंजलि : यही तो संसार का सबसे बड़ा प्रश्न है। मैं क्या करूँ ? इस पर विचार और कर्म के पहले मनुष्य अपना शरीर, मन और वाणी शुद्ध कर ले। जो मन से कायर, शरीर से शिथिल होने पर भी वचन का वीर है, उससे कुछ नहीं होता। विश्व शक्ति-तरंग है। वह तरल अग्नि जो इसके अन्तरतम में द्रुत-वेग से चक्कर लगा रही है, विषाद के कलुष से पीड़ित अपने

को कुछ न समझने वाले प्राणी द्वारा अनुकरण करने की वस्तु नहीं।

पुष्यमित्र : आर्य! तब क्या इस दुःखवाद, श्रद्धाहीन निराशा की ओर ले जानेवाले अनात्मवाद के निर्वाण का अन्धकार अनन्त है? आर्य जाति कहाँ जा रही है? और ¨।

पतंजलि : जहाँ उसे जाना है, चिति शक्ति अपने अभाव पक्ष की लीला देख रही है। तुम क्षात्रधर्मा ब्राह्मण अभी भी दुविधा में पड़े हो। जीवन का विकास इस दुःखपूर्ण बुद्धिवाद के बन्दीगृह में अवरुद्ध है। उसे आनन्द पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है। दुःखवाद की निद्रा छोड़कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं, तुम, मंगलपूर्ण सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह के पंच-कृत्य करने में कुशल चिरानन्दमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो। तुम्हारे कर्म विश्व के अनुकूल होंगे। वही करोगे जो होना चाहिए।

[पुष्यमित्र कुछ समय के लिए सिर झुकाकर प्रकृतिस्थ हो जाता है। पतञ्जलि का प्रस्थान। नेपथ्य से कोलाहल करते हुए मालव सैनिकों का प्रवेश। पुष्यमित्र चौंककर खड़ा हो जाता है]

पुष्यमित्र : क्या है?

बलमित्र : आर्य! इस अपमान का प्रतिशोध लिये बिना हम लोग शान्त नहीं होंगे। कुक्कुटाराम शान्त

तपस्वी भिक्षुओं के निवास योग्य अब नहीं रहा। अब वह अपने नाम को सार्थक करेगा। और उसमें कुक्कुट ही रहेंगे।

पुष्यमित्र : तो क्या तुम लोग उपद्रव करने पर तुले हुए हो ?

एक मालव सैनिक : मालव कुल की वीर बालिकाएँ इस तरह पकड़ कर धर्म के नाम पर कारागार में बन्द कर दी जायँ और हम लोग देखते रहें। यह नहीं हो सकता।

दूसरा सैनिक : धर्म कहाँ है ? जनता को क्या वास्तव में संघ वही दे रहा है जो उससे आशा थी ?

तीसरा सैनिक : ठीक है सेनापति। मिठाई न मिले तो मीठी बात तो मिलनी ही चाहिए। हम पर अत्याचार भी हो और ऊपर से डाँट-फटकार।

पुष्यमित्र : (रोष से) मूर्खो ! सम्राट् भी इस समय संघाराम में ही हैं, लौट जाओ। मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा।

बलमित्र : आपकी व्यवस्था तो कुछ ही क्षण पहले मैंने देखी है। अभी-अभी आपने राज-शक्ति को प्रसन्न करने के लिए अन्यायपूर्वक अपने पुत्र को बन्दी करने की आज्ञा दी है।

तीसरा सैनिक : और राजशक्ति संघ को प्रसन्न करने में तत्पर है। कहा भी है कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे'।

पुष्यमित्र : तुम अपनी परिहासप्रियता को रोको। (बल-

मित्र से) सुनते हो बलमित्र! बृहद्रथ केवल सम्राट ही नहीं, अपितु वह मेरी एकान्त राजनिष्ठा का प्रतिनिधि है। सुनो, यह पुष्यमित्र नहीं कह रहा है किन्तु सेनापति की आज्ञा है, मेरे प्रिय सैनिको, लौट जाओ।

बलमित्र : पूज्यपाद, आप मेरे पितृव्य हैं किन्तु सेनापति नहीं। जो सैनिक की मर्यादा सुरक्षित नहीं रख सका ऐसे सेनापति का अधीनता में सैनिक भी नहीं।

[नेपथ्य से—'महानायक अग्निमित्र की जय।' पुष्यमित्र चौंककर देखने लगता है। इरावती और कुछ सैनिकों के साथ अग्निमित्र का प्रवेश]

पुष्यमित्र : (उन्मत्त भाव से) तो क्या तुम सब विद्रोही हो? नहीं, अग्निमित्र, तुमसे मुझे यह आशा न थी। तुमको बन्दीगृह में जाने की मैंने आज्ञा दी थी।

अग्निमित्र : तात, वह आज्ञा शिरोधार्य करके मैं बन्दीगृह तक गया।

पुष्यमित्र : तो फिर कैसे चला आया?

अग्निमित्र : आपकी आज्ञा पालन करके मैं लौट आया।

पुष्यमित्र : (उद्विग्न भाव से टहलता हुआ) हूँऽ। (फिर सहसा खड्ग खींच लेता है) तो फिर आओ आज सेनापति और सैनिकों की शस्त्र-परीक्षा होगी। साम्राज्य का एक स्वामिभक्त पुरुष यहाँ उपस्थित था, इसे संसार जान ले।

बलमित्र : मालव की पवित्र कुमारियों के नाम पर, उनके उज्ज्वल सम्मान के नाम पर कुक्कुटाराम में जाने का पथ माँगता हूँ। प्रतिज्ञा करता हूँ कि मालव कुमारियों को लाने के अतिरिक्त संघाराम में और कुछ न करूँगा।

पुष्यमित्र : मेरे जीवित रहते यह नहीं हो सकता।

[पतंजलि का सहसा पुनः प्रवेश]

पतंजलि : वाणी का अपव्यय न करो। एक कदाचित् शब्द लगा लेने से क्या बुरा होता? किन्तु यह क्या? तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो? सेनापति, तुम्हारा इन्द्रध्वज महोत्सव विघ्न-संकुल है। उत्सव के संरक्षक व्याकुल हैं। स्थविरों की मन्त्रणा से विमूढ़ होकर सम्राट् बृहद्रथ की कोई विकट आज्ञा उन्हें मिली है। मैं स्वस्त्ययन करने जाकर लौट आया। चलिए शीघ्र उधर चलिए।

[चिन्तित भाव से पुष्यमित्र का प्रस्थान]

बलमित्र : अग्निमित्र ! अब क्या देख रहे हो?

[मालव सैनिकों का संघाराम के द्वार में प्रवेश।]

इरावती : अब क्या होगा?

पतंजलि : वही जो होनेवाला है।

इरावती : आचार्य, क्या होनेवाला है? मैं तो हतबुद्धि-सी हो रही हूँ।

पतंजलि : क्षत्रिये ! यह मनुष्य की तर्क-बुद्धि की प्रतिक्रिया है। सहस्रों वर्ष की दार्शनिकता ने

अपना अतिवादी स्वरूप प्रकट किया है। आज हम लोग दर्शन का सृष्टि से सामंजस्य करना भूलकर बौद्धिक मोह में पड़े हुए हैं। हममें सब कर्मों को भस्म करनेवाली अग्नि-ज्वाला, आत्मा की आहुति समझकर सब को ग्रहण करनेवाली शक्ति का ह्रास हो रहा है। चिरकाल से ब्राह्मणों के विरोध में क्षत्रियों ने जिस दार्शनिकता की सृष्टि की है उसी का यह परिणाम है कि एक वीर बालिका उपद्रव की आशंका से घबराकर पूछती है कि अब क्या होगा ? आर्य चाणक्य ने शूद्रप्राय भारतवर्ष में जिस क्षात्र धर्म की प्रतिष्ठा की थी वह अनात्मवाद के चक्कर में छिन्न-भिन्न हो रहा है, अब ब्राह्मण को ही समतोलन के लिए क्षात्रिय बनना पड़ेगा। यह उसी का समारम्भ है।

इरावती : तो क्या विप्लव होगा ?

पतंजलि : (हँसकर) विप्लव ? नहीं ! संशोधन होगा। महाशक्ति की सृष्टि, महायज्ञ है। इसकी आहुतियाँ बन्द कर दी गयी हैं। मन, वाणी और शरीर से इसीलिए आर्य लोग अपवित्र हो गये हैं। आत्मकेन्द्र के अभाव में कर्मों की प्रतिष्ठा नहीं रही। इसलिए अब फिर से यज्ञ का आरम्भ हो रहा है।

(कुक्कुटाराम के द्वार से मालव सैनिकों के साथ इन्द्र कुमारियाँ आती हैं)

अग्निमित्र : (पतंजलि से) आचार्य, हम लोग किधर चलें ?

पतंजलि : (इन्द्रध्वज की ओर हाथ उठाकर) इन्द्रध्वज के नीचे।

[पटाक्षेप]

दृश्यान्तर

[मालवों के साथ पतञ्जलि आकर इन्द्रध्वज की वन्दना करते हैं। विस्तृत भूमिका में इन्द्रध्वज; जिसके चारों ओर खड्ग लिए आठ कुमारियां गाती हुई घूमती हैं।]

बलमित्र : आचार्य ! अब क्या आज्ञा है ?

पतंजलि : आज्ञा न पूछो। यज्ञ का आरम्भ है। जिस दृढ़ता के साथ तुम लोगों ने अब तक इसकी रक्षा की है उससे विचलित न हो। जो कुछ करना है वह धीरे-धीरे नहीं, बड़ी तीव्र गति से मेघ-ज्योति की तरह स्वयं उपस्थित होकर तुम से कर्त्तव्य करा लेगा।

एक मालव : यह तो बात समझ में नहीं आती। बुद्धि से जिसका आदि और अन्त न समझा गया हो उस कर्म को करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा ?

पतंजलि : तुम पक्के बुद्धिवादी हो। मालूम होता है कि तुमने जन्म लेने से पहले भी भली भाँति सोच विचार लिया था।

एक मालव : आर्य ! ऐसा तो नहीं, फिर भी जब हम सोचने-विचारने के योग्य हो जायँ तब अविचार से चलना क्या ठीक होगा ?

पतंजलि : तुम्हारी ज्ञान श्लाघा नयी नहीं है। विचार करने पर भी तुम आज तक की घटनाओं को नियति का सुनिश्चित कर्म नहीं समझ रहे हो। अभी हृदय के यौवन से, आनन्द से जिस सीमा तक बढ़ आये हो वह कदाचित् बुद्धि क्षेत्र से दूर है। सम्राट् की आज्ञा भंग करके जो बीज तुमने आरोपित किया है, वह शीघ्र ही फलीभूत होगा।

अपरिसमाप्त